ज्वालामुखी

लेखक
श्रीमन्महाराजकुमार
बाबू दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह

प्रकाशक
सरस्वती-प्रेस, बनारस सिटी

प्रथम	नवम्बर	मूल्य
संस्करण	१९२९	बारह आने

भेंट

भ्रातृवर !

'हृदय-विटप की यह प्रथम कली' सादर सप्रेम
आपकी भेंट है। इसे एक आहत—किन्तु
तरुण—हृदय की अमूल्य निधि
समझकर अपनाइये।

हृदय के इस भावोच्छ्वास में न भाषा-सौष्ठव है—
न कल्पना-कौशल ; है केवल विक्षिप्त
हृदय की लगन-भरी पीड़ा !

कृपा करके इस मर्म-वेदना की ओर टुक निहा-
रिये तो सही, भेंट स्वीकार करते ही बनेगा ;
और आपकी वह स्वीकृति ही इस
मर्म-व्यथा के लिये सरस-
सुखद समवेदना और
उपयुक्त उपचार है।

सदैव आपका
दुर्गाशंकर

श्रीमान राय बजरंग-बहादुरसिंहजी, 'भद्री'-नरेश,
प्रतापगढ़ (अवध)

कृतज्ञता-ज्ञापन

जब यह पुस्तक शैशवावस्था में थी, तब मैंने इसे अपने जिले के सुप्रसिद्ध गद्य-कवि सूर्यपुराधीश श्रीमान् राजा राधिकारमणप्रसादसिंहजी एम० ए०, भूतपूर्व 'बालक'-सम्पादक तथा वर्त्तमान 'युवक'-सम्पादक श्रीयुत पं० रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी, 'साहित्य-रत्न' श्रीगंगाशरणसिंहजी (खड़गपुर, पटना) और विख्यात हिन्दी-लेखक श्रीयुत पं० रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्त-शास्त्री को दिखाया था। आप सभी महानु-

भावों ने इसे देखकर मुझे विशेष प्रोत्साहन प्रदान किया। अतः आगे बढ़ने की हिम्मत हुई, और इस रूप में पुस्तक समाप्त हुई। मैं उक्त सभी आदरणीय महानुभावों का अतिशय कृतज्ञ हूँ।

फिर मैंने इसे पूरा करके स्वनामधन्य सुलेखक और सुकवि श्रीयुत पं० कृष्णकान्तजी मालवीय 'अभ्युदय'-सम्पादक को दिखलाया। आपने मेरे सामने ही इसको सहर्ष आद्योपान्त पढ़ा और अपने अनेक अमूल्य परामर्शों से कृतार्थ करके मुझे खूब ही प्रोत्साहन दिया। साथ ही, इसको स्वयं सम्पादित करने का वचन भी दिया; परन्तु अवकाशाभाव के कारण आप इस पुस्तक को दुबारा देख न सके। तो भी, आपके सत्परामर्शों के लिये, मैं आपका अत्यन्त आभारी हूँ। आशा है कि पंडितजी अपने परामर्शों को सफल देखकर सन्तुष्ट होंगे।

कई मास के उपरान्त मैंने एक पत्र में काशी-प्रवासी श्रीयुत शिवपूजन सहायजी 'हिन्दी-भूषण' से इसकी चर्चा की। आपने काशी के 'सरस्वती-प्रेस' से

पत्र-व्यवहार करने की सलाह दी। मैंने इसके प्रकाशन के सम्बन्ध में उक्त प्रेस से पत्र-व्यवहार किया। भक्तवत्सल भगवान् विश्वनाथ की कृपा से प्रेस ने इसका प्रकाशन-भार स्वीकार कर लिया। बाबू शिवपूजन सहाय ने इसकी भूमिका भी लिख दी। इस कृपा के लिये मैं आपका अधिक कृतज्ञ और ऋणी हूँ।

मैंने जो कुछ लिखा था, उसको साहित्य-सेवियों के सामने रखते हुए डर मालूम होता था; किन्तु बाबू शिवपूजन सहाय के प्रेमाग्रहपूर्ण प्रोत्साहन से ही यह पुस्तक इस रूप में हिन्दी-प्रेमियों के सामने उपस्थित की जा रही है, और उन्हीं के उत्साहित करने से मैं एक मौलिक उपन्यास भी लिख रहा हूँ, जो अब समाप्त-प्राय है। यदि हिन्दी-प्रेमियों ने इस तुच्छ भेंट को अपनाया, तो अपनी वह दूसरी कृति भी उनकी सेवा में उपस्थित करने का साहस करूँगा।

दिलीपपुर, जगदीशपुर,
शाहाबाद (विहार)
दीपावली, १९८६

दुर्गाशंकरप्रसादसिंह

उत्सर्ग

प्रियतम !

तुमसे प्रेम करने के अपराध में मुझे अद्य-पर्यन्त अनेक यातनाओं के अत्यन्त संकीर्ण मार्ग से होकर गुज़रना पड़ा है। तुम्हारी ही धुन में अहर्निश दर-दर ठुकराता और ख़ाक छानता फिरा हूँ। इसे या तो तुम जानते हो या मैं। मुझे तुमसे विशेष कुछ नहीं कहना है।

उस दिन तुमने मुझको अपनाया था। मैंने भी हृदय-द्वार के कपाट खोल दिये थे। तुम अपनी इच्छा-

नुसार वहाँ निवास करते रहे। अब शायद वह हृदय-देश तुमको नापसन्द हुआ है—तुम्हारी वह क्रीड़ास्थली तुमको अब उजाड़ और शुष्क प्रतीत हुई है; मानों तुम्हारे लिये उसमें अब वह प्रेम की मस्ती ही न हो—वह हृदय-तरंग का कोमल-कान्त हिलोर ही न हो।

प्राणेश! सच पूछो तो अब यहाँ नरक की यातना का भोग आरम्भ हो गया है—प्रलय का झंझावात बहना शुरू हो गया है—विलम्ब या सन्देह नहीं कि हृदय के किसी कोने से अग्नि की चिनगारियाँ फूट निकलें और भावोद्यान के कल्पना-किसलयों को जलाकर भस्मीभूत कर दें।

परन्तु, फिर भी, तुमने जो प्रेम-मदिरा पान करने की बान लगा दी है, उसी से, आज, इस नाज़ुक परिस्थिति में भी, मैं मर नहीं जाता; बल्कि अपने-आप में ही मस्त रहता हूँ। प्रेम-शिराज़ी का जाम नित्य ढालता हूँ और वेदना की मस्ती में सदैव मस्त ही पड़ा रहता हूँ। तुमको यह सुनकर आश्चर्य तो होगा ज़रूर, लेकिन मरण में जीवन, विष में अमृत, अतृप्ति

में तृप्ति, दुःख में सुख इसी का नाम है। शायद तुमने कभी सुना भी होगा।

इसी लिये, पुस्तक-रूप इस हृदय-थाल को, भावोद्गार के कुम्हलाए कुसुमों से भरकर, तुम्हारे कर-कमलों में अर्पित करता हूँ।

इस भेंट को इस प्रकार, इतने सहज रूप में, तुम्हारे सामने उपस्थित करते समय अन्तर्जगत् के बहुत-से मित्रों ने बाधा डाली थी। परन्तु, सब की बातों की अव-हेलना करके—आत्म-गौरव का भी बलिदान करके—हृदय की गुदगुदी, प्रेम की आजिज़ी, मन की प्रेरणा, तथा लगन की प्रार्थना से आकृष्ट और विजित होकर वैसा करना ही पड़ा—इस भेंट को तुम्हारे सामने रखना ही पड़ा। क्या करूँ, इसके लिये मैं विवश था।

लेकिन, मुझे तुमसे यह भी कहना है कि तुम इस उत्सर्गीकृत वस्तु को न तो अति शीघ्र स्वीकार ही कर लेना और न अति शीघ्र इसे घृणा-व्यञ्जक दृष्टिपात से ठुकरा ही देना; क्योंकि मैंने इसी ख़याल से इसको तुम्हारे सम्मुख उपस्थित किया है

कि तुम्हारे द्वारा स्वीकृत या अस्वीकृत—सम्मानित या तिरस्कृत—होने के पूर्व ही मैं इसे वापिस ले लूँगा—इसको सम्मानित अथवा अपमानित होने का अवसर ही न दूँगा। न तो मैं इसको स्वीकृत करा के अपने निःस्वार्थ प्रेम की मर्यादा को नीचा दिखाना चाहता हूँ और न इसे अस्वीकृत होने देकर अपनी आत्मीयता को ही धक्का पहुँचाने की इच्छा रखता हूँ। केवल इसी विचार से मैंने इसे तुम्हारे सामने उपस्थित किया है। इससे मेरे दुःख का दंश—विरह की ज्वाला और भी अधिक तीव्र होगी, हृदय-राज्य की समृद्धि-वृद्धि होगी, जीवन की उलझनें वास्तविक आनन्द के रूप में परिवर्तित होंगी।

यदि तुमको निश्चय-रूप से स्वीकार या अस्वीकार—दोनों में से कोई एक—करना ही हो, यदि तुम अपनी पहली शोख़ी और विरक्ति का स्मरण करके इसको अस्वीकार ही करना चाहते हो, यदि तुम मेरी आहों से आकृष्ट हो, यदि मेरे हृदयोद्गार की वास्तविकता से द्रवीभूत होकर इसे स्वीकार

करने की उत्कट इच्छा रखते हो, तो कृपया मेरी पुरानी मित्रता के नाते—मेरे आत्मसम्मान की जिम्मेवारी के विचार से—मुझे, मुझ मरणासन्न पगले को, अपने भृकुटी-संकेत द्वारा, स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के पूर्व ही, सचेत करने की कृपा करना—अपनी आन्तरिक इच्छा जता देने की अनुकम्पा करना ; ताकि मैं हृदय-रक्त को वसुन्धरा पर गिराकर, उसके धूलि-धूसरित होने के पूर्व ही, उसे उठाकर अपने वक्षस्थल में पुनः स्थान दे दूँ—विरह के करुण क्रन्दन को, तुम्हारे कर्ण-कुहरों में प्रवेश होने के पहले ही, दिग्दिगन्त में निरुद्देश्य भ्रमण करने के लिये छोड़ दूँ—तुम्हारी विस्मृति की जीर्ण-शीर्ण अट्टालिका के खँड़हरों में सदा के लिये तिरस्कृत होकर बिलबिलाते फिरने को प्रेषित न करके उसे अनन्त की नीरव व्यापकता में अनादि काल के लिये भ्रमण करते रहने की आज्ञा दे दूँ—अपने हृदय की गोप्यतम प्रेम-कहानी को, तुम्हारी विस्मृति की स्मृति में स्मरण होते रहने के लिये, तुम्हारे कानों तक उन्हें

न पहुँचाकर, अपने अन्तस्तल की अज्ञेयता में ही, हृदय-सागर के असंख्य उद्विग्न भँवरों में ही, डूब जाने की, मर मिटने की, आज्ञा दे दूँ। तभी तो शायद गरल से अमृत, मरण से जीवन, उष्णता से शीतलता, यातना से भोग और दुःख से सुख को निकाल पाऊँगा।

परन्तु, नहीं प्यारे! तुम तो मुझको अपनी आन्तरिक इच्छा बताओगे नहीं। मैं तुम्हारे स्वभाव से पूर्ण परिचित हूँ। तुम अपने हृदय की बात, मेरी दीन प्रार्थना को सुनकर भी, प्रगट नहीं होने दोगे। अतः इसे तुरत वापिस लेना ही मेरे लिए उचित है—तुम्हारे चरणों पर इसे पूजा-रूप में रखकर, विना तुम्हारे प्रसाद स्वीकार किये ही, विना तुमसे पूछे ही, अर्पित प्रसाद की तरह, वापिस ले लेना ही मेरा कर्त्तव्य है।

तुम कहोगे, "फिर समर्पित करने की आवश्यकता ही क्या थी?' और हँसोगे। ठीक ही है। तुम्हारा प्रश्न करना और हँसना उचित ही है। इस दिखावे-

पन की अनावश्यकता को मैं भी मानता हूँ। लेकिन करूँ क्या ? तुम शायद नहीं जानते, प्रेमी का हृदय अपनी समस्त भली-बुरी भावनाओं को अपने प्रेमी के सम्मुख रखने के लिये लालायित रहता है। हाँ, अपने आत्मसम्मान की रक्षा में वह भले ही प्रत्यक्षतः वैसा करते सकुचाता हो। इतना मुझको मानना ही पड़ेगा।

इसीलिये, हृदय की आजिज़ी, प्रेम की प्रेरणा, लगन की प्रार्थना और जिगर की गुदगुदी से विवश होकर हृदयोद्गार-रूपी इस अर्चना को तुम्हारे सम्मुख मैंने अर्पित किया, और साथ ही, प्रेम की मर्यादा रखने के लिये—हृदय का मान निभाने के लिये—आत्मीयता के गौरव को ढोने के लिये—इसे वापिस भी ले लिया है ; नहीं तो हृदय की बातें और मन की आकांक्षाएँ या तो ईश्वर ही जानता होगा या तुम। बस, क्षमा करना !

तुम्हारा वही चिरपरिचित

दुर्गाशंकर

भूमिका

यह पुस्तक क्या है—भाषा-भाव के स्वच्छ सलिलाशय में एक मर्माहत हृदय की दारुण करुण व्यथा का प्रकम्पित प्रतिबिम्ब है। इसमें हताश लेखक के सन्तप्त हृदय का जो उष्ण उच्छ्वास है, वह सचमुच किसी 'ज्वालामुखी' के भीषण प्रस्फोट से कुछ कम प्रलयंकर नहीं है।

भग्न-हृदय लेखक की सिसकियाँ तो ग़ज़ब की चुटीली हैं! उनकी कमनीय कल्पनाएँ तो और भी हृदयग्राहिणी हैं। इसके पाठ से जहाँ एक ओर साहित्य-रस-रसिक सुविज्ञ पाठकों को ललित गद्य-काव्य के रसास्वादन का आनन्द उपलब्ध होगा, वहाँ दूसरी ओर नवनीत-हृदय सहृदय सज्जनों का चित्त भी एक विरहानल-दग्ध हृदय की ज्वाला से द्रवीभूत हुए विना न रहेगा।

लेखक महाशय हमारे ज़िले (शाहाबाद, बिहार-प्रान्त) के एक सुप्रतिष्ठित रईस और बड़े होनहार तथा उत्साही युवक हैं—सन् सत्तावन के ग़दर के प्रसिद्ध बिहारी नेता उज्जैन-वंशावतंस क्षात्र-धर्म-धुरन्धर वीरवर बाबू कुँवरसिंह के वंशधरों में से हैं। आपके पूज्य पितामह स्वर्गीय श्रीमन्महाराजकुमार बाबू नर्मदेश्वरप्रसादसिंहजी ('ईश'-कवि) बड़े ही प्रगाढ़ विद्वान्, सुकवि, गुणग्राहक, साहित्य-मर्मज्ञ, कला-रसिक, विद्याव्यसनी और कवि-कोविद-सत्कार-परायण थे। उनका 'धर्मप्रदर्शनी' नामक पांडित्यपूर्ण

ग्रंथ हिन्दी-साहित्य में एक बड़ा ही मूल्यवान नीति-ग्रंथ है, और उनका 'शृंगार-दर्पण' तो वास्तव में उनकी कवित्व-शक्ति की स्पष्ट झलक दिखानेवाला स्वच्छ दर्पण ही है। उन्हीं से आपको विरासत में यह साहित्यानुराग प्राप्त हुआ है।

इस पुस्तक द्वारा यदि लेखक के परम्परा-प्राप्त सच्चे साहित्यानुराग का पता लगता है, तो कहीं-कहीं इसकी प्राञ्जल वर्णनशैली में उनका सद्वंश-सुलभ स्वाभिमान भी झलक रहा है। परन्तु, उनकी उद्वेग-भरी निराशा और वेदना-भरी अशान्ति को देखकर तो यही अनुभव होता है कि इस प्रतारणामय संसार के आपात-मनोहर प्रेम-कूप में उनके तृषार्त्त हृदय को विन्दु-मात्र भी जल नहीं मिला है! और, इसी लिये उनका तड़पने का नाट्य-कौशल बड़ा ही हृदय-द्रावक और चित्ताकर्षक हुआ है, जो सम्भवतः प्रत्येक सहृदयहृदय को सहानुभूति और समवेदना में सराबोर कर देगा। प्रेम की उपलब्धि के संकटमय मार्ग में बार-बार हताश-हृदय होकर भी उन्होंने जो

स्वाभाविक दृढ़ता और उत्साह प्रदर्शित किया है—व्यथित-चित्त होकर भी अपने मनोगत भावों को मर्मस्पर्शी ढंग से अंकित करने का जो शब्द-शिल्प-नैपुण्य दिखाया है, उसके लिये प्रत्येक भावुक हृदय उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करेगा, और साथ ही, उनकी ओजस्विनी भाव-व्यंजन-प्रणाली से प्रभावान्वित होकर उनके व्यग्र हृदय के साथ समवेदना भी प्रकट करेगा।

हमें भी लेखक महाशय के अन्तस्ताप से कुछ कम सहानुभूति नहीं है। पर, चूँकि उन्होंने 'शान्ति से ब्याह' कर लिया है, इसलिये अब हम उनके प्रति समवेदना न प्रकट करके उन्हें हार्दिक बधाई ही देते हैं!

काल-भैरव, काशी
देवोत्थान-एकादशी, १९८६ } **शिवपूजन सहाय**

हंस

'ज्वालामुखी' की लोल लपटें

ज्वालामुखी

रहस्य-हीन हृदय

सृष्टि की उत्पत्ति और उसके विनाश में कोई रहस्य है। वर्षा-ऋतु में वनस्पतियों के लहलहाने और मुरझा जाने में भी कोई रहस्य है। अपने-अपने समय पर महुए में छोटा फल और कुष्मांड में बड़ा फल लगने तथा पककर गिर पड़ने में भी कोई-न-कोई रहस्य अवश्य है। इसी प्रकार क्रम से ऋतु-परि-

वर्त्तन, मनुष्य का जीवन-मरण, एवं एक का विकाश और दूसरे का विनाश भी, रहस्य से रहित नहीं है।

पुनः क्रिया, विचार और स्थिति-परिवर्त्तन में भी रहस्य का अभाव नहीं है। संसार के सभी पदार्थ कुछ-न-कुछ रहस्य अवश्य रखते हैं; परन्तु मेरा यह हृदय अब रहस्य-हीन है। इसमें किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं है, मुबालग़ा नहीं है; सच-सच शपथ खाकर कह रहा हूँ—इसमें अब रहस्य की गन्ध तक नहीं है।

एक समय था, जब इसमें रहस्य था। रहस्य का पुञ्ज इसके चतुर्दिक्—सामने, दायें, बायें, पीछे, सर्वत्र—व्याप्त था; चौबीस घंटे में कोई भी ऐसा क्षण नहीं था, जब यह रहस्य-रहित रहा हो। परन्तु अब वस्तुतः इसमें रहस्य का चमत्कारपूर्ण सौष्ठव अवशिष्ट न रहा। अब यह सर्वथा शून्य है। किन्तु शून्यता की मात्रा इसमें कितने अंश तक व्याप्त है, यह तो मैं नहीं बता सकता; पर इतना निश्चय-पूर्वक कह सकता हूँ कि यह अब नितान्त रहस्य-हीन हो गया है।

आकाश की शून्यता से पूछो कि उसकी शून्यता में क्या रहस्य है, और उससे जो उत्तर मिले, वही इस हृदय की रहस्य-शून्यता का प्रत्युत्तर समझो।

यदि चन्द्रमा से पूछा जाय कि उसके हृदय की कालिमा का क्या रहस्य है, और उससे जो उत्तर प्राप्त हो, वही इस हृदय की रहस्य-हीनता का भी उत्तर होगा।

यदि कज्जलवर्ण मेघ के गंभीर गर्जन का रहस्य पूछा जाय, तो वह जो उत्तर दे, वही उत्तर मेरे इस हृदय की रहस्य-शून्यता का कारण होगा।

द्वितीया के चन्द्रमा से पूछो कि उसकी क्षीणता और बाँकपन का रहस्य क्या है, और साथ ही यह भी पूछो कि वह किस रहस्य के कारण इतनी जल्दी अस्त हो जाता है—कभी-कभी तो दिखाई तक नहीं देता, और जो वह उत्तर दे, उसी से समझ लो कि मेरे मस्तिष्क के इस बाँकपन का—इस खम का—रहस्य क्या है।

हृदय पर जो स्याही पुत उठी है, वह जिस रहस्य-कालिमा से पोती गई, उसकी थोड़ी भी अनु-

भूति अब हृदय या मस्तिष्क में नहीं होती; और इसी से कहता हूँ कि यह हृदय और मस्तिष्क रहस्य-हीन हैं।

हृदय में जो ग़ुबार उठता है, वह शून्य-प्रदेश के बवंडर की तरह उठ-उठकर फिर बैठ जाता है। जब उसको प्रकट करने का प्रयत्न करता हूँ, तब वह और भी अदृश्य हो जाता है, इसी से कहता हूँ कि मेरा हृदय सर्वथा रहस्य-हीन हो गया है।

मस्तिष्क की हड्डी में जब ख़म आ जाता है, तब मनुष्य पागल हो जाता है। डाक्टरों का कहना है कि जब मस्तिष्क की हड्डी टूट जाती है, तो प्रथम तो जुटती ही नहीं, और यदि प्रयत्न से जुड़ भी जाय, तो उसके जुड़ने से जो मांस उसके चारों ओर उठ आता है और खोपड़ी में भेजे को दाब देता है, वही उसको पागल कर देता है। वैसे ही, ठीक वैसे ही, मेरे इस मस्तिष्क की भी कोई हड्डी शायद टूट गई है, जिसका कृत्रिम जोड़ दिमाग की गुद्दी की—समझ के पिंड को—चतुर्दिक् से दाबे डालता है,

और इसी से उसका उन्माद और बढ़ रहा है। नहीं तो, मैं रहस्य-हीन होकर भी पागल-सा प्रलाप क्यों करता ?

अपने मस्तिष्क की ऐसी बेढंगी दशा देखकर मुझे इसपर दया आती है। परन्तु करूँ क्या? विवश हूँ, सुधारने का कोई उपाय नहीं है। जिस प्रकार पूर्वार्द्ध के वक्र चन्द्रमा के उदय के साथ पतन लगा रहता है, उसी प्रकार इस मस्तिष्क की भी दशा है। जहाँ विचार उठे कि उसके साथ-ही-साथ उसकी जीवन-नाड़ी भी शिथिल पड़ने लगती है —Sink होने लगती है। जिस प्रकार मध्याह्न-काल में पुष्प-कली खिलने लगे और खिल भी न पावे कि धूप के प्रकोप से तथा रसाभाव के कारण मुरझा जाय, वैसी ही दशा इस हृदय-कली की हुई है। इसमें रहस्य-रस नहीं है। बिना रस के विकास कहाँ?—जीवन कहाँ?

आकाश की शून्यता में देखो, और फिर हृदय की शून्यता की ओर देखो। आकाश में बादलों का गरजना और बिजली का कौंधना, जलती हुई चिन-

गारियों का छिटकना और दो बड़े-बड़े आग के शोलों का भबकते हुए इधर-से-उधर घूमना। इसके अतिरिक्त और भी कुछ देखते हो? हाँ, अखंड-व्यापी शून्यता और अन्धकार भी देखते हो। पर, यदि ध्यान-पूर्वक देखो, तो मेरे इस हृदय और मस्तिष्क में भी वही बातें पाओगे। जैसे उधर दो मशालें जल रही थीं, वैसे ही इधर भी—इस दिल पर भी—भूत और वर्त्तमान की स्मृतियों की दो मशालें जल रही हैं व्यथा की असंख्य चिनगारियाँ सर्वत्र छिटकी हुई हैं। नैराश्य और अधैर्य का अखंड अन्धकार तमाम फैला हुआ है; और जिस प्रकार आकाश, रहस्य रखते हुए भी, शून्य है—रहस्य-हीन प्रतीत होता है—अन्धकार को अपने हृदय में इस प्रकार बिठला लिया है कि वहाँ किसी भी रहस्य-घटना का घटित होना और न होना बराबर है, उसी प्रकार इस हृदय और मस्तिष्क की दशा हो गई है—ठीक वैसी ही दशा, कि जिसके प्रभाव से यहाँ की समस्त अनुभूतियाँ कुंठित हो गई हैं।

आकाश में लोग गोला, गोली, तीर आदि चलाते हैं। वे उसके हृदय को चीरते हुए ऊँचे-से-ऊँचे स्थान तक पहुँचते हैं, परन्तु उसको इसका ज्ञान तक नहीं होता कि मेरा हृदय तीर या गोली से छेदा जा रहा है। उसके हृदय में इस प्रकार शून्यता व्याप्त हो गई है—इस प्रकार वेदना बढ़ गई है कि अब उसको किसी प्रकार की यंत्रणा का अनुभव ही नहीं होता। ग़ालिब ने क्या ख़ूब फ़र्माया है—'दर्द का हद से गुज़-रना है दवा हो जाना।' बस यही हाल इस हृदय का भी समझो। इस पर नित्य असंख्य तीर, गोले, गोलियाँ बरसती हैं; परन्तु इसको उनकी पीड़ाएँ अनुभव करने का अवकाश नहीं। तीर लगते हैं, तो लगें; गोले-गोलियों की बौछारें होती हैं, तो हों भले ही; इसको तो केवल 'मीर' के इस कलाम में ही मस्त रहना है—

"मर्ग एक माँदगी का वक़्फ़ा है।
याली आगे चलेंगे दम लेकर॥"

एक फ़क़ीर का—त्यागी-विरागी का—रूप रचा लिया है! हाथ में विरह की माला थी, उसको भी

अब फेंक दिया है—बग़ल में स्मृति का मृगचर्म था, उसको भी कहीं बैठने के स्थान पर ही छोड़कर चलता बना—'प्रेम'-शब्द का एक गुरु-मंत्र मिला था, उसे भी स्मरण नहीं रखता—दया और कठोरता का बना हुआ चिमटा हाथ में चिटचिटा रहा था, उसको भी कहीं-का-कहीं फेंक दिया—प्यास को बुझाने के लिये नेत्र-रूपी कमंडल में आँसू भर लिया था, उसे भी उस दिन एकबारगी उसके सामने उडेल दिया—अपने हृदय में एक अग्नि-कुंड बनाकर उसमें धधकते हुए अंगारों को चुन रक्खा था, उस कुंड को भी तोड़कर अंगारों को फेंक दिया—समाज-रूपी कौपीन को कमर में किसी ने लपेट दिया था, वह भी कहीं गिर गई! अब त्यागी—अटट्ट त्यागी—की सूरत बनाकर, शून्यता की सड़क पर, रहस्य-हीन हाथों को भाँजता हुआ, सीध की ओर ताकता हुआ, निर्द्वन्द्व, दक्षिण को चला जा रहा है; मार्ग में रोड़े पड़ते हैं, टकराकर गिरता है, और उठने की सामर्थ्य रहता है तो उठता है, नहीं तो वैसे ही लुढ़कता-पुढ़-

कता गतिशील बना रहता है ; 'न ऊधो का लेना— न माधो का देना', न राजा से काम—न भोगी से प्रीति ; शून्य-हृदय, शून्य-मन, शून्यता के साम्राज्य में, उद्देश्य-शून्य चला जा रहा है। किसी ने ढेला मारा, वह शरीर पर लगा और गिर गया। वह चला ही जा रहा है। किसी ने गिन-गिनकर दस-बीस सुनाये, शब्द कान में प्रवेश कर सन्न-से उधर को निकल गये। किसी ने धक्का दिया, गिर पड़ा और उठकर पुनः चलता बना। बस इसी तरह सीधे दक्षिण की ओर चला जा रहा है। इसी से कहता हूँ कि मेरा हृदय रहस्य-हीन है ; नहीं तो मुझे भी मस्तिष्क मिला है, मैं क्यों इसे रहस्य-हीन कहता ?

१६—९—१९२६]

भामिनी-वेदना

"अपने तईं भी खाना ख़ाली नहीं लज़्ज़त से।
क्या जाने होशवाले चक्खें तो मज़ा जानें।"
—'मीर'

जब से वेदना के साथ मेरा पाणि-ग्रहण हुआ है, तब से मैं उसके प्रेम में पागल हो गया हूँ। उसके नामोच्चारण-मात्र से भी मुझे अब आनन्द मिलता

है। आनन्द क्या? विश्राम की सुख-दुःख-मिश्रित एक विलक्षण तुष्टिमयी अप्रकाश्य दशा भीतर अनुभूत होती है, जिससे हृदय का चिरसंचित गुबार ऊपर को उठकर अपना बोझ हल्का करता है—और मैं इसी स्वार्थ से प्रेरित होकर पुनः-पुनः वेदना को पुकारा करता हूँ। यहाँ तक कि लौकिकता को भूल-सा गया हूँ; जिससे तुम मुझको उन्मादी कहते हो। परन्तु स्मरण रखना—जब तक तुम अपने हृदय में विश्राम की इस तुष्टिमयी दशा का स्वतः अनुभव नहीं करने लगते, तभी तक ऐसा कहते भी हो। सृष्टि में बहुतेरी बातें केवल अनुभवगम्य होती हैं; वहाँ तर्क अथवा समालोचना की गुंजाइश नहीं होती। इससे यदि तुम यही चाहो कि केवल मस्तिष्क के ही बल से अथवा कोर कल्पना से ही इस वेदना-पुकार का रहस्य समझ लूँ, तो यह नहीं होने का। यदि इसके समझने की वास्तव में इच्छा है, तो दिल को पैदा करो—"तीर खाने की हवस है तो जिगर पैदा कर"! नहीं तो इस निरर्थक अट्टहास से भ्रम दूर न होगा। जो तुम हँसते-हँसते

पृथ्वी पर लोट जाते हो—तुम्हारे पेट में बल पड़ जाता है—तुम करतल-ध्वनि से शोर मचाकर मुझे शान्त करने का स्वप्न देखते हो, सो तुम्हारा भ्रम-मात्र है। तुम इतने अजान बनकर भी इतना तो अवश्य मानोगे कि इस हृदय-प्रलाप से केवल आन्तरिक व्यथा की ही शान्ति हो सकती है, सामाजिक या दैहिक नहीं। फिर भी, यदि तुम अपनी उद्दंडता को न छोड़कर मुझे छेड़ते रहते हो, तो इसमें मेरा वश ही क्या है ? मैं तो पागल हूँ—संसार और समाज से कोसों दूर हूँ—मेरे न तो समाज की घृणा-व्यंजक दृष्टि की ओर देखने के लिए आँखें हैं, न तिरस्कार की व्यंग्योक्ति सुनने के लिए कान। मैं अपने में मस्त हूँ। मैं तुम्हारे साहित्यिक दोष—पुनरुक्ति-दोष—को, तुम्हारे कपोल-कल्पित शुष्क व्याकरण की गलतियों को, क्या जानूँ ? तुमको मस्तिष्क है, मुझको हृदय। तुम्हारे हिस्से हँसी है, मेरे हिस्से रुदन। तुम सुख-विलास के भागी हो, मैं दुःख-यातना का। सृष्टि की अच्छी-बुरी सभी चीजें हमीं में से तो किसी को भोगनी हैं ?

परन्तु, भूल गया ! कैसा भुलक्कड़ मेरा मन हो गया है ! क्षण-क्षण की बातों को भूल जाया करता हूँ ! वेदने ! तू मेरे पास आई थी, तुम्हें लाड़-प्यार करना तो दूर रहा—मैं पागल बनकर कुछ-का-कुछ बकने लगा ! अच्छा, अब आकर मेरी गोद में बैठ जा, मैं तुझको लाड़-प्यार करूँ—अपने हृदय से सटाकर इन सांसारिक दुःखों का नाश कर दूँ—प्रेमालिङ्गन में आवद्ध होकर निर्दय समाज के द्वेषपूर्ण आक्षेपों को भूल जाऊँ ।

अहा ! वेदना को बार-बार पुकारने में कैसा आनन्द मिलता है—कैसा हृदय शीतल हो जाता है ! जो वस्तु अपनी प्रिय होती है, उसे पुनः-पुनः सम्बोधित करने में कैसा सुख मिलता है—कैसा आनन्द होता है ! यह सम्बोधन-'कारक' जिसने व्याकरण-शास्त्र में रक्खा होगा, उसके सामने हृदय का पुराण अवश्य सुनाया गया होगा। अर्वाचीन साहित्यों की अपेक्षा प्राचीन साहित्य में अधिक हृदय है, तभी तो उसमें सम्बोधन-'कारक' का अधिक प्रयोग हुआ है ।

कहीं-कहीं एक ही छन्द में बार-बार सम्बोधन है। हा! उन्नतिशील जगत्! हा! प्रगतिशील समाज! तुम इस सहृदयता को क्यों पीछे छोड़े जा रहे हो? इसको अपनाते हुए क्यों डरते हो?

आ री वेदने! आ, मैं तुझको पुकारकर फिर दूसरी बातें बकने लग गया। क्षमा करना, जब तक तू संग रहती है, तब तक लौकिक कष्टों का न तो अनुभव होता—न समाज के क्रूर शासन से पीड़ा ही होती है। परन्तु यहाँ से क्षण-मात्र के लिए भी तुम्हारे हटते-ही-हटते हृदय पर किस प्रलय-काल का हाहाकार नृत्य करने लगता है, यह कैसे बताऊँ? अतः प्रिये! आओ, मेरे हृदय से निरन्तर लगी रहो। तुम्हारे साथ ही मेरा विश्राम है।

अन्ध और वधिर संसार! तू वेदना से कोसों दूर भागना चाहता है? बस इसी से तू दुःखी, व्यग्र, आर्त्त और दीन है। पर मैंने तो इसे वरण कर लिया है, इसलिये रोकर भी सुखी हूँ, सन्तप्त होकर भी सन्तुष्ट और शान्त हूँ। तुम रोने के महत्त्व को क्या

जानो ? भला विना रोए शान्ति कहाँ है ? तुम रोने को बुरा मान हँसते हो, इसी से तुम दुःखी हो।

हा ! फिर भूल गया ! मस्तिष्क ने पुनः धोखा दिया ! वेदने ! फिर तुमको बुलाकर मैंने आदर-पूर्वक नहीं बिठलाया—बेढंगी अप्रासंगिक बातें बकने लगा। क्या करूँ ? विवश हूँ ! मेरी चेतना कुंठित हो गई है। ठिकाने की बातें सूझतीं नहीं। हृदय-हीन संसार मेरी बातें सुनकर हँस दिया करता है। पर तुम इसके लिए क्षमा करना। जैसे मैंने कई बार तुमसे क्षमा माँगी है, वैसे ही अब भी माँगता हूँ, दया करके ठुकराना नहीं।

क्षमा माँगने और देने में भी कैसी विमोहकता है ! परन्तु किससे और किसको ? जो सहृदय है—जो अपनी मर्मानुभूतियों को दिल के काँटे पर रख-कर तौलता रहता है और वैसे ही दूसरों की अनु-भूतियों को भी समझता है—जो भावना के जल से त्रिकाल स्नान करके दया-गायत्री का मंत्र जपना जानता है—जो प्रेम की आँच में अपने कच्चे हृदय

को पकाकर स्वच्छ और उज्ज्वल बना चुका है, उसके पैरों पर गिरकर, हाथ बाँधकर, नत-मस्तक होकर, आत्मीयता और अहंकार तथा अभिमान की तिलाञ्जलि देकर, क्षमा माँगने में कैसी विमोहकता है—कैसा आकर्षण और कितना आनन्द है ! वह कैसे बताऊँ ? और, साथ-ही-साथ, जो दीन है—दुःखी है—आरत, अपात्र, अक्षम्य, अपराधी, असहाय और अधीनस्थ है; उसको क्षमा-प्रदान करने में—विना किसी प्रतीकार के क्षमा करने में—कैसी शान्ति और संतुष्टि है, कैसी हृदय की विशालता है ! यह कतिपय मनुष्य ही जानते हैं। इसे इने-गिने लोग ही बर्तते भी हैं।

क्षमा का स्थान मानवी भावों में सर्वोच्च है। मानव-हृदय की विभूतियों में दया यद्यपि सर्वश्रेष्ठ है, तथापि इसको भी क्षमा के सम्मुख अपना मस्तक नीचा करना पड़ता है।

"दया वह दाना है, जो पोली धरती पर उगता है और 'क्षमा' वह दाना है, जो काँटों में जमता है।

'दया' वह धारा है, जो समतल में बहती है, और 'क्षमा' कँकड़ीली-पथरीली भूमि में चट्टानों से टकराती हुई प्रवाहित होनेवाली है।" बस अन्तर यही है।

आह वेदने! तुमने इसको समझा नहीं, और शायद इसी से, अद्य-पर्यन्त, कभी मेरे क्षमा माँगने पर भी, मुझे हृदय से क्षमा-प्रदान नहीं किया। ईसाई-धर्मावलम्बी ईसा के आज्ञानुसार अन्त समय में क्षमा-प्रार्थी होते हैं—अपनी करतूतों पर पश्चात्ताप करके अन्त में उनके लिए ईश्वर के सम्मुख सच्चे दिल से क्षमा-प्रार्थी होते हैं—अपनी सारी आत्मीयता, लोक-लज्जा और अहंकार को तिलाञ्जलि देकर क्षमा माँगते हैं, और उसी से स्वर्ग-सुख को प्राप्त करते हैं। कैसा सरल और सुगम—किन्तु कठिन—मार्ग ईसा ने स्वर्ग-सुख प्राप्त करने के लिए बताया है! इस सिद्धान्त के आविष्कारक का संसार के ऊपर बड़ा भारी ऋण है। शायद "जनम-जनम मुनि जतन कराहीं, अन्त राम कहि आवत नाहीं" की यह समालोचना-मात्र है। इस सिद्धान्त में कैसा

उज्ज्वल हृदय प्रतिबिम्बित है—कैसी पवित्र और स्वर्गीय वस्तु का इसमें चित्रण किया गया है !

परन्तु, हा निष्ठुर समाज ! तुमने किसी भी उज्ज्वल वस्तु को उज्ज्वल न रहने दिया । उसको अपने स्वार्थानुसार व्यवहृत करके उसे कलुषित अवश्य कर दिया। तुम सदैव टट्टी की ओट से शिकार करते रहे। जैसे तुमने इतनी सात्विक भावनाओं और सिद्धान्तों को अद्यावधि कलुषित किया है, वैसे ही तुमने प्रभु ईसा के इस क्षमा-वाक्य को भी कलंकित किया है। धन्य हैं वे मतावलम्बी, जिनको सुयोग्य पात्रों के सम्मुख क्षमा माँगनी पड़ती है—जिनको अपने आहत हृदय के तथ्य रूप को सुपात्र के सम्मुख दिखाना पड़ता है—उसकी कालिमा को धोने की प्रार्थना करनी पड़ती है ; और, साथ ही, वे सुयोग्य महानुभाव भी धन्य हैं, जिनके सम्मुख सरल-हृदय विश्वासी क्षमा-प्रार्थी होता है ।

इसी से मैं कह रहा था कि सच्चे हृदय से क्षमा-प्रार्थना करने में कैसा आनन्द है—कैसी विमोहकता

है और इसमें हृदय-साम्राज्य का कैसा वैभव-विकास है! परन्तु ये सारी बातें तुम्हारे लिए नहीं हैं। तुमने क्षमा-प्रदान करने के मूल्य को समझा नहीं है। समझा भी हो, तो न मालूम क्यों, व्यवहार में इसको नहीं लाती हो। मेरे जिस अज्ञेय अपराध से रुष्ट होकर तुम मुझे नित्य कष्ट देने पर तुली रहती हो, उस अपराध का मार्जन कराने के लिए जब मैं प्रार्थना करता हूँ, तभी तुम हँस देती हो—निरर्थक प्रलाप कहकर चल देती हो। कभी भूले-भटके भी प्रेम और दया की दृष्टि इधर नहीं फेरतीं!

परन्तु, इतना सब होते हुए भी, मैं वैसा ही बना रहता हूँ। भाँवरी पड़ने की मंगलमयी रात्रि में जिस-अखंड प्रेम को अपने हृदय में रखकर तुम्हारे साथ भाँवरी दी थी, उसी प्रेम को आज भी निःस्वार्थ भाव से निबाह रहा हूँ। शरीर कट जाय, कंठ छिन्न हो जाय, हृदय विदीर्ण हो जाय, प्राण-पखेरू उड़ जायँ, अपना सर्वनाश भी हो जाय; पर मैं उसी अखंड प्रेम से तुम्हारा आलिङ्गन करूँगा—उसी

निःस्वार्थ प्रेम से तुम्हारे दिए हुए कष्टों को सहर्ष स्वीकार कर आनन्द प्राप्त करूँगा।

अहा! वेदने!! निःस्वार्थ भाव से प्रेम करने में कैसा आनन्द है! कैसी अनोखी सहृदयता है! कैसी अविरल साधना और उपासना है! और, यदि तुम्हारे साथ निःस्वार्थ प्रेम निबाहा जा सके, तब तो आनन्द की सीमा ही नहीं है। फिर उसमें यदि प्रेम की मस्ती का योग हो जाय, तो क्या बात है! सोने में सुगन्ध! मणि-कांचन-संयोग! और फिर, यदि कोई सुघर सुनवैया मिल जाय, तब तो आकांक्षा में तृप्ति—अभिलाषा में पूर्त्ति, प्रवृत्ति में निवृत्ति-जैसा आनन्द अनुभूत होता है। आह! प्रेम की मस्ती इस दुनिया में बड़ी ही मँहगी वस्तु है। किन्तु वेदने! तुम्हारी मस्ती—तुम्हारी यातना की मस्ती—भी एक अनोखी ही वस्तु है! और उसी में मैं भी मस्त हूँ। अजी, मिलो, और उसी के साथ तुम भी मस्त रहो!

"मेरी वह लगन"

१

वह देखो, मेरी प्यारी चिर-संगिनी 'लगन' इधर ही को चली आ रही है। विना कुछ बोले, विना किसी हिचकिचाहट के, विना सहमे-सकुचाये, इसी ओर बढ़ती चली आती है। जैसे कोई अपनी जन्म-भूमि की ओर ललकता जाता है, वैसे ही, प्रेम में इतराती और उमङ्ग में उछलती हुई, आगे को बढ़ी चली आती है!

ऐं ! क्या कहा ? क्या अपने हृदय-मन्दिर के द्वार को बन्द कर दूँ ? उसको इस पर्णकुटी में प्रवेश करने से रोक दूँ ? अथवा, उसे उसके जन्म-सिद्ध अधिकार से वञ्चित कर दूँ ? अथवा, एक नोटिस लिखकर कि "अब यहाँ न रहो, कर्त्तव्य ने मुक़दमा जीतकर तुम्हारे घर को खर्चे में कुर्क कराया है, अब तुम्हारा यहाँ वास नहीं हो सकता" हृदय-गृह के द्वार पर चिपका दूँ कि वह देखकर उलटे-पाँव वापिस भी चली जाय और मुझको अपने मुख से कुछ अप्रिय कहना भी न पड़े ? शीघ्र कुछ समझ में नहीं आता कि क्या करूँ।

लेकिन बात तो ठीक है। दुःख तो इससे बहुत हुआ है। जीवन निस्सार और कंटकाकीर्ण तो इस चिर-सङ्गिनी—लगन—ही के कारण हुआ है। लो, यही निश्चय किया। हिम्मत बाँधकर दिल को मजबूत किया, और प्रकम्पित हाथों को दृढ़ बनाकर, पतित-प्राय अश्रु-विन्दुओं को रोक करके, नोटिस लिखकर उसपर हस्ताक्षर कर दिया।

अब चलो, समीप आ गई ; शीघ्र नोटिस साटकर हट जाऊँ कि प्रत्यक्ष होने का अवसर न आवे, और कार्य भी निर्विघ्न सध जाय।

ऐं ! यह अन्तस्तल में क्या होने लगा ? यह कैसा विप्लव ! कैसी क़यामत ! अरे साहस, तू इतना प्रोत्साहन देकर अब कहाँ भाग गया ? अरे धीरज, तू इतना पीठ ठोंककर अब क्यों चुप बैठ गया ?

उफ़ ! अभ्यन्तर में बड़ी पीड़ा हो रही है। तो भी, किसी प्रकार, नोटिस को तो साट ही दिया।

अब देखो, वह आ गई ! अपने बालों को बिखराये, अंचल को अस्तव्यस्त किये, पगली की सूरत बनाये, इधर-उधर ताकती हुई, किसी विचार में विक्षिप्त-सी, सामने आकर खड़ी हो गई—नोटिस को पढ़ने लगी !

अब कुछ नहीं हो सकता। नोटिस पढ़कर उसके मुख पर गम्भीरता की छाया सघन हो गई—पागल-पन चैतन्य में परिणत हो गया। वह देखो, अब उसकी आँखों से दो बूँद आँसू निकलकर उसके कपोल पर आ टिके !

आह ! लो, अब सर्वनाश हुआ ! वह 'अन्याय ! अन्याय !!' चिल्लाती और पगली की तरह बड़बड़ाती हुई घूम पड़ी—जिधर से आई थी, उधर ही जाने लगी ! अब तो नहीं रहा जाता। प्यारी 'लगन' का इस प्रकार रूठकर भागना अपनी आँखों नहीं देखा जाता। अब विना पुकारे जी नहीं मानता।

ऐ मेरी प्यारी लगन ! ऐ मेरी चिर-सङ्गिनी !! तनिक सुन तो जाओ; दो बातें तो करती जाओ।

वह देखो, मेरी बातों को सुनते ही घूम पड़ी ! आँखों से अविराम अश्रुधारा बहाती हुई इधर को आने लगी ! वह धीरे से कुछ बोली, जिसे औरों ने तो नहीं सुना; पर मुझको वह स्पष्ट-रूपेण कर्णगोचर हुआ। शब्द क्या थे, करुणा और तथ्य के सार-स्वरूप थे—"संसार के सामने यह सब-कुछ है; पर मैं तुमसे अलग कहाँ होती हूँ, जन्म-जन्मान्तर से हमारा-तुम्हारा साथ है, हमारा-तुम्हारा वियोग हो ही नहीं सकता, तुम मुँह से चाहे जो बकते रहो, हम-तुम सर्वथा अभिन्न हैं।"

यह कहती हुई वह धीरे-धीरे, मस्त चाल से, हृदय के दरवाजे पर आकर खड़ी हो गई। कर्त्तव्य, साहस की तलवार ले, वहाँ पहरा देने को आ डटा। पौरुष, वीरता की गदा ले, देहरी पर बैठ गया। सभ्यता, शक्ति का कवच पहनकर, इन सबों की पीठ ठोंकने लगी।

वह पगली वैसे ही अविराम अश्रुपात करती, गम्भीरता का बाना पहने हुई, हाथों को बगल में दबाये, अञ्चल को कन्धे से लटकाये, धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगी। मैं पाप की तरह काँपता हुआ सामने ताकता रहा। एक अज्ञात तुष्टि की रेखा, हृदय-पट पर, गोप्य आनन्द की कलम से, स्वतः खिंच रही थी। आँखों के सामने अमावस्या का घोरतम अंधकार होते हुए भी, मैं सब कुछ देख रहा था।

वह धीर गति से दरवाजे तक पहुँची। पहरेदारों के वार लगातार हो रहे थे। पर वह दृढ़ता से आगे बढ़ती ही गई। मानों आघातों का उसे कुछ ज्ञान ही नहीं था! कर्त्तव्य की तलवार, पौरुष की

गदा, सभ्यता और समाज के विषाक्त तीर, उसकी हड्डियों में चुभते जा रहे थे; पर वह निर्भीकता-पूर्वक आगे बढ़ती ही गई, ज़रा भी सहमी नहीं। मुँह से 'उफ़' तक न निकली!

मैं यह सब देखता खड़ा रहा, टस-से-मस न हुआ। वह स्वच्छन्द गति से हृदय-द्वार के भीतर घुसने लगी। हृदय ने प्रफुल्लित हो कपाट खोल दिये। मैंने आँखें बन्द कर लीं। मूर्च्छा-सी आ गई, या क्या हो गया, यह तो मालूम नहीं; पर जब आँखें खुलीं, तो अपनी प्यारी 'लगन' को वहाँ न देखा!

२

परंतु आज इतने दिनों के उपरान्त किसने यह अतीत का दर्पण दिखाया? संसार की घुड़दौड़ में दौड़ते-दौड़ते मेरे जीवन-चतुष्पद के दो पाँव कभी के टूट गये। नैतिक क्षेत्र में स्वाभाविकता की हत्या करने पर भी हृदय ने कभी उफ़ तक नहीं की। समाज, कान पकड़े, जिधर चाहा, मुझे घुमाता रहा। पर आज किसने यह ऐसा दर्पण दिखाया कि इतने

दिनों तक जिसे भूल गया था, उसका पुनः स्मरण हो आया ? जिस सुगन्धित पुष्प-पराग को चतुर्दिक् से सम्पुटित कर अन्तस्तल में ही गोपन कर रक्खा था—जिसको सर्वतोभावेन संवेष्ठित कर वेदना की धधकती आँच में अद्यावधि भस्म होने को छोड़ रक्खा था, उसे आज किसने पुनः निकालकर दिग्दिगन्त में वितरित कर दिया ? मैं तो पुनः उसकी गन्ध से चैतन्य-शून्य, उन्मत्त, बुद्धिहीन और उद्भ्रान्त हो गया ! काँटा गड़कर, समय के प्रभाव से, मांस ही में गल-पच गया था ; उसको फिर से किसने खोदकर खटका दिया ? संसार को दिखलाने के लिये, कृत्रिमता की जो दीवार खड़ी कर रक्खी थी, अब वह गिरी जा रही है ! साहस, धैर्य, कर्त्तव्य, समाज—सब भागे जा रहे हैं ; कोई बात तक नहीं पूछता। लेकिन इससे मैं विचलित नहीं हो सकता। अब तो मुझे संसार के सम्मुख यह प्रत्यक्ष दिखा देना है कि यह सब कपोल-कल्पित धर्माधर्म इस क्रूर एवं निर्जीव तथा स्वार्थी समाज की कुटिल नीति के साधन मात्र

हैं। इनकी भद्द उड़ाकर तथा इनका पोलापन दरसा-
कर आदर्शवादियों को समझा देना है कि इनमें शान्ति
नहीं, सुख नहीं, वरन् विकट संग्राम का तुमुल कोला-
हल मात्र भरा पड़ा है, और वह केवल इसलिये कि
समाज का स्रोत प्रवाहित रहे—सृष्टि का चक्र
घूमता रहे।

उस दिन अपनी प्यारी 'लगन' पर आघात होते
देखकर मैंने आँखें मूँद ली थीं। दृष्टि खुलने पर इन
कर्त्तव्यादिकों ने आश्वासन देते हुए कहा था—यह
मर गई, इसे छोड़ो; भविष्य देखो, संसार के लिये
मनुष्य बनो; भूत का विचार छोड़ो, भावुकों की कोरी
कल्पना के पीछे पागल बनना बुद्धिमान् का काम
नहीं; वर्त्तमान का भरोसा करो।

उस दिन इन लोगों के कथन पर मुझे विश्वास
भी हुआ था। पर आज वे सब झूठे प्रमाणित हुए!
आज मुझे ज्ञात हुआ कि वह सब प्रपञ्च था—
राजनीति के शस्त्र से स्वार्थ की वेदी पर करोड़ों का
बलिदान करना था! वाल्मीकि का, मर्यादा-पुरुषोत्तम

'राम' को आदर्श बनाना, निरा वितंडावाद था—तत्कालीन सामाजिक क्रान्तियों के सुलझाने का एक साधन मात्र था! आज मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि मेरी प्यारी 'लगन' दौड़ती हुई मेरी ओर चली आ रही है, और मैं उसे अपनाने जा रहा हूँ—कर्त्तव्यादिकों के वितंडावाद से क्षुब्ध एवं प्रपीड़ित होकर। उसके नेत्रों से अविराम आसूँ झर रहे हैं, शरीर के घावों से निरन्तर रक्तस्राव हो रहा है, उन्मादिनी की तरह झूमती चली आ रही है; पर तब भी इस क्रूर समाज को टुक दया नहीं आती। वह धर्माधर्म के ढकोसले को सामने रख, अपनी ही धुन में मस्त और निज स्वार्थ-साधन में व्यस्त है। कृत्रिमता का स्वार्थ-साधन में इस प्रकार समावेश कर दिया है कि वास्तविकता कोसों दूर हट गई है।

वह दौड़कर मेरे हृदय से लिपट गई! ओह! कैसा कर्कश बन्धन है! कैसा विह्वल आलिङ्गन है! दोनों भुजाओं के बीच आबद्ध कर हृदय से लिपटी है—बन्धन क्षण-क्षण कड़ा होता जाता है! आह!

आँखें रोते-रोते सूज आई हैं, सिसकियाँ रुकतीं नहीं, बिखरे हुए बाल इधर-उधर मुखारविन्द पर लोट रहे हैं, शरीर की सुधि नहीं, साँस रुँध रही है। 'प्रिय! प्रिय! प्राण! प्राण!' बस कभी-कभी यही शब्द सुन पड़ते हैं। कैसी विपन्न दशा है!

ओह! यह किस स्वर्ग का सुख है? किस नन्दन-कानन की हरियाली है? किस इन्द्रासन का सौख्य है? मैं किस आनन्द-स्रोत में बहा जा रहा हूँ? आनन्द, सौख्य, सौन्दर्य—चतुर्दिक् से खड़े होकर ये किस कमनीय गति से नाच रहे हैं? मुझे और मेरी प्यारी 'लगन' को इस तरह रिझा-रिझाकर किस अलौकिक आनन्द की ओर लिये जा रहे हैं? मालूम नहीं, मैं किधर को चला जा रहा हूँ—किस अनन्त के छोर पर टकराने को बहा जा रहा हूँ!

१७—५—१९२६]

उसका वह प्यार

"जिसकी ज़िल्लत में भी इज़्ज़त सज़ा में भी मज़ा ।
कुछ समझ में नहीं आता कि मुहब्बत क्या है ॥"

—'हसरत'

१

'उपमा'

आह ! उसका वह प्यार !! क्योंकर बतलाऊँ कि उसका वह प्यार कैसा था ? उसकी याद आते ही माथा चकराने लगता है, कानों में झाँय-झाँय होने

लगता है, स्मृति-शक्ति विलीन होने लगती है। बिजली की उष्णता धमनियों की राह से हृदय की ओर दौड़ पड़ती है। व्याकुल हृदय चेतना-हीन हो उठता है, उसकी स्पन्दन-क्रिया अवरुद्ध हो जाती है।

तब फिर क्योंकर बता सकता हूँ कि उसका वह प्यार कैसा था? वह किस सौन्दर्य के साँचे में ढालकर, किस लावण्य का पानी फेरकर, तैयार किया गया था कि उसके स्मरण-मात्र से ही सब-कुछ भूल जाता हूँ?—सम्पूर्ण क्रियाएँ, सम्पूर्ण भावनाएँ, सम्पूर्ण चेतनाएँ, लुप्त हो जाती हैं; आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है।

परन्तु, उसका वह प्यार? अहा! वह प्यार का प्यार, ईश्वर जाने, राम जाने, कैसा था! कोकिल-कंठ-निस्सृत सङ्गीत को—कालिन्दी के अतल वक्षस्थल पर बिखरी हुई चंद्रिका को—नीरव सन्ध्या-समीरण के कोमल-कान्त हिलोर को मात करनेवाला उसका वह प्यार कैसा था? उसकी सुन्दरता न-जाने किन कुशल करों से निर्मित की गई थी कि लाख प्रयत्न करने पर

भी उसके तथ्य का परिचय नहीं मिलता था। उसके स्मरण-मात्र से ही शरीर शिथिल पड़ने लगता है, भावनाएँ संग्राम मचा देती हैं, विचार विशृङ्खलता की पराकाष्ठा को पहुँच जाते हैं। समुद्र के ज्वार-भाटे की तरह अस्पष्ट भावों की लहरें उठती हैं और एक-पर-एक टकराकर, विह्वलता-रूपी भँवर की गहराई में विलीन होने लगती हैं। सब-कुछ भूलकर घंटों स्तब्ध पड़ा रहता हूँ। फिर जब होश होता है तब एक दीर्घ निःश्वास के साथ सहसा मुँह से निकल पड़ता है—आहा! उसका वह प्यार!!

× × ×

न मालूम वह प्यार कैसा था कि आज उसके उपमान ढूँढ़ने से भी नहीं मिलते। आह! वह बाल-मुस्कान-जैसा पवित्र, अट्टहास-जैसा उच्छृंखल, चंद्रकला-जैसा शीतल, सङ्गीत-जैसा प्रिय, आशा-जैसा हृदयग्राही, सुरुचि-जैसा कोमल, काव्य-जैसा सरस, यश-जैसा उज्ज्वल, और स्वभाव-जैसा अविचल था, या कुछ और-जैसा, यह किस प्रकार बतलाऊँ? यदि

कहूँ कि वह अतीत के स्मरण-जैसा कमनीय, प्रिय-मिलन-जैसा वाञ्छनीय, विरही की हृदय-कहानी-जैसा गोप्य, पुष्प-पराग-जैसा स्निग्ध, सद्यः-प्रस्फुटित कमलिनी के अभिनव विकास-जैसा सुन्दर और मुग्धा की प्रणय-गुदगुदी-जैसा ललित था, तो इससे भी हृदय के भाव व्यक्त नहीं हो पाते ; बल्कि वर्णन करने की चाह और भी तीव्र होकर मुझे व्यग्र कर देती है। तब उसकी उपमा मुझको और भी ढूँढ़ने से नहीं मिलती। उसके ऐसी सुख-शान्ति-सम्पन्न वस्तु इस सृष्टि में कहीं नज़र नहीं आती ! उसके ऐसी सौन्दर्यपूर्ण, मादकतापूर्ण तथा विमुग्धकारी वस्तु विश्व-साहित्य में भी दृष्टिगोचर नहीं होती। विस्तृत नीलाम्बर की उस सघन नीलिमा में नक्षत्र-राशि की जगमगाती आभा को देखकर भी यह समझ में नहीं आता कि वह कितना सुन्दर था ! उषा-काल के मन्द मलय-समीर में, भगवान् भास्कर की दिव्यारुण शैशव-कला में, अनन्त आकाश की वृहत् व्यापकता में, उनींदी आँखों के सम्पुट कोर में, बिम्बाधरों

की ललित हास्य-रेखा में, प्रफुल्ल कपोल की उल्लास-भरी अरुणिमा में, नैराश्य की सुखद सान्त्वना में, प्रत्याशा की विमोहक थपकियों में, मानव-जीवन के उच्चादर्श में—कहीं भी उसकी वह कोमलता, चंचलता, स्वच्छता, व्यापकता, सुन्दरता, मधुरता, सजीवता, मनोहरता और पवित्रता नहीं दिखलाई पड़ती। उसका वह प्यार बहुवर्णरंजित इन्द्रचाप-जैसा सुन्दर, रवि-किरण-रंजित-तुषार-किरीट-मंडित हिमालय-जैसा उच्च, शरच्चन्द्रिका-जैसा निर्मल, प्रशान्त-सागर-जैसा अगाध, हेमन्त-निशीथ-जैसा मौन, वसंत-प्रभात-जैसा उज्ज्वल था—यदि ऐसा भी कहूँ तो सन्तोष नहीं। फिर कैसे कहूँ कि उसका वह प्यार क्या था और कैसा था ?

२

'आजिज़ी'

अहा ! उस अतीत के प्यार—उसके प्यार के प्यार—के सामने आते-ही-आते किस तरह हृदय में गुदगुदी उठती है ! किस भाँति से उसकी स्मृति,

नव-यौवना चंद्रानना की उमंग-भरी चाल-जैसी, मानस-पट पर अठखेलियाँ करती हुई चली जाती है ! किस प्रकार हृदय, प्रेमोच्छ्वास में गद्गद होकर, फूल उठता है तथा तज्जनित आनन्दानुभूति में विह्वल हो पागल हो जाता है !—यह कैसे बताऊँ ? इन सब बातों को किस प्रकार उपयुक्त शब्दों में गुम्फित करके संसार के सामने रख दूँ ? कैसे अन्तस्तल की निगूढ़ बातें समाज के सामने व्यक्त करूँ, जिससे वह जान ले कि प्रेमोन्मादी का हृदय निरा उन्माद ही से भरा-पूरा नहीं रहता, बल्कि उसमें उन्माद के परे भी सार्थकता की कोई अप्राप्य वस्तु गोपनीय रहती है, जिसको केवल पागल ही जान सकता है। यह सब किस तरह से संसार को समझा दूँ, यही समझ में नहीं आता। ऐ वधिर-निर्दय संसार ! क्या तुम ऐसा कोई मार्ग बतला सकते हो, जिससे इस वर्णन में मैं सफल-मनोरथ होऊँ ? हा ! कठोर-हृदय विधाता ! तूने सृष्टि में मनुष्यों को जैसे सब-कुछ दिया, वैसे ही हृदय की बात वहिर्भूत करने की कोई और

अधिक सरल-सुबोध भाषा इन्हें क्यों नहीं पढ़ाई ? लाख प्रयत्न करके भी सर्वत्र ढूँढ़ता हूँ ; पर कहीं भी वह शक्ति नहीं मिलती, जो हृदयानुभूतियों के व्यक्त करने की विधि बतावे । हृदय की भावना में, मस्तिष्क की कल्पना में, साहित्य की भाषा में, कवि की उक्ति में, कला के कौशल में, प्रेमी के हृदय में—सर्वत्र खोजता हूँ ; पर कहीं भी वह मनोगत भाव के व्यक्त करने की शक्ति नहीं मिलती, जिसकी सहायता से मैं बता पाऊँ कि उसका वह प्यार कैसा था ! मेरे हृदय का हृदय, मेरे जीवन का जीवन, मेरे सर्वस्व का सर्वस्व—वह प्यार······! ? !

"छाती जला करे है, सोज़े दरूँ बला से !
एक आग-सी लगी है, क्या जानिये कि क्या है ?"

—'मीर'

३

'मद की मादकता'

उस प्यार की रट ! उस प्यार की रट !! मैं यह करता क्या हूँ ? इसी से न लोग मुझे पागल कहते

हैं ? मुझको इन बीती बातों से क्या काम ? जिसने मेरे जीवन को जीवन-हीन किया, उसी प्यार का वर्णन करके मैं किस सुख की थाती को पा लूँगा कि उसका वर्णन करने के लिये इस प्रकार प्रयत्नशील हो रहा हूँ ? उसी ने तो मेरे भाग्य-राकेश को राहु-ग्रस्त, मेरी आशा-लतिका को आश्रय-हीन, मेरे प्रेम-सङ्गीत को माधुर्य-हीन और मेरे हृदय-पुष्कर को पंकज-शून्य किया है ! और मैं उसी कठोर-हृदय 'प्यार' का वर्णन करने चला हूँ ? यह उन्माद नहीं तो और क्या है ?

उसी प्यार के वर्णन में, अपने-आपको भूल, हाय-हाय कर, कलेजा थाम लेता हूँ—दिल मसोस-कर रह जाता है, भावनाएँ विशृङ्खल हो हृदय में संग्राम मचा देती हैं, मनन-क्रिया रुक जाती है, मस्तिष्क चकरा जाता है, अभ्यन्तर में उथल-पुथल होने लगता है, सामने के अन्धकार में खुली हुई आँखें किसी अदृष्ट की ओर देखने लगती हैं, हृदय की क्रान्तिमयी दशा का सन्देश लेकर दीर्घ निःश्वास

बाहर आने लगता है, चतुर्दिक् से सिमट-सिमटकर अन्धकार-पुञ्ज सामने सघन हो उठता है, हाथ पर माथा रखकर घंटों विस्मृति-स्रोत में बहता हुआ व्यथाओं की चट्टानों से टकराता फिरता हूँ, यह किस स्वार्थ-साधन के लिये? यह पागलपन नहीं तो और क्या है?

लेकिन नहीं, संसार की दृष्टि में भले ही यह उन्माद है; पर मेरी नज़र में तो इस आहत हृदय को इसी से विश्राम और शान्ति मिलती है। इसमें मादकता के साथ-साथ आत्म-विस्मृति भी है, जिससे व्यथाओं के तीखे कंटक उतनी कर्कशता से नहीं चुभते। घंटों रोने के उपरान्त जिस प्रकार हृदय की आँच ठंडी पड़ जाती है, वैसे ही इसमें लाखों बार डूबने-उतराने से दिल की जलन भी कम पड़ जाती है, जिस प्रकार नदी तीव्र गति से प्रवाहित होकर कूल-द्रुम को उखाड़ फेंकती है, उसी प्रकार यह अनर्गल वर्णन-स्रोत स्वच्छन्द रीति से प्रवाहित होकर व्याकुल हृदय के तीर-तीर जमे हुए शोक-द्रुमों को उखाड़

फेंकता है। तो भी, इतने पर भी, यह प्रश्न हल नहीं होता कि 'कैसे बताऊँ, उसका वह प्यार कैसा था'?

४

'स्मरण'

वह प्यार! उस प्यार की स्मृति!! अहा! उस दिन राका-रजनी में, उसके उस प्यार की कमनीयता को, उसकी गोद में पड़े-पड़े, मैंने अचंचल नयनों से निहारा था। तब से आज तक उसकी स्मृति बनी ही हुई है! उस दिन, निशीथ के शान्तिमय क्रोड़ में, समस्त संसार सुख-स्वप्न देख रहा था। जड़-प्रकृति अमन्द मन्द शीतल वायु का सुख-स्पर्श अनुभव कर रही थी। कुमुदिनी हँस-हँसकर अपना विरह-वृत्तान्त, अपने प्रीतम राकेश को, मूक भाषा में, चेष्टा के सहारे, सुना रही थी। चातक अपने प्यारे की धुन में प्रेम-पुकार कर रहा था। नदी के उस पार से

कोयल, सुख की तन्द्रा में निमग्न संसार को, सुख-सङ्गीत सुना रही थी। कालिन्दी की असंख्य लहरें, अभिसारिका की भाँति, उमंग-भरी चाल से, इठलाती हुई, अपने प्रीतम समुद्र की ओर चली जा रही थीं—प्रीतम-समुद्र भी अपने अगाध प्रेमोच्छ्वास के उल्लास में मधुर गान गाता हुआ उसे हृदय-तल में बिठला रहा था—नहीं, प्रेमोन्मत्त सागर अपनी श्यामा सुन्दरी प्रणयिनी के उभय-कूल-बाहु-पाश में आबद्ध हो अपने तरङ्ग-रूपी अधरों से बार-बार उसका चुम्बन कर रहा था। आकाश में कमनीयता छिटक रही थी। नभोमंडल से समूह बाँध-बाँधकर सौन्दर्य पृथ्वी पर उतर रहा था। सुख, शान्ति, आनन्द, उमङ्ग, उत्साह, जीवन, परस्पर गलबहियाँ डाले चतुर्दिक् डोल रहे थे। और मैं ? मैं उसी सौख्यमयी रजनी में, जाह्नवी के कलित कूल पर बिछी हुई रजतमयी सैकत-शय्या पर, उसके उस प्यार को गोद में लिटा-लिटाकर, उसके प्रेमाम्बु-प्रवाह में अवगाहन करता हुआ, उसके प्यार की कमनीयता को देख रहा था। उसी समय मैंने उसके

उस प्यार को अपने हृदय में, आजीवन के लिये, स्थान दिया था, जो अद्यावधि आँखों के सामने झूला करता है—जो अद्य-पर्यन्त स्मृति-रूप में मेरे हृदय और मस्तिष्क में निवास करता है। यदि उसको अब हटाना भी चाहता हूँ, तो उसकी स्मृति—उसके उस प्यार की सुन्दरता, उसका वात्सल्य, उसकी वह करुणा, मस्तिष्क से, क्षण-भर के लिये भी, पृथक् नहीं होती—क्षण-भर भी आँखों से ओझल नहीं होती। उफ़! वह प्यार—

तेरी याद की उफ़ यह सर-मस्तियाँ,
कोई जैसे पीके शराब आ गया!
—'जिगर'

५

'खेद और सान्त्वना'

परन्तु, ओह! वह प्यार! वह प्यार की कमनीय रजनी!! कहते हुए हृदय टूक-टूक हो जाता है। वह

इस सुन्दर स्मृति की जीवन-दात्री—भूतपूर्व रजनी—अब बीत गई! जैसे ज्ञानी माया को छोड़कर चला जाता है, जैसे विरागी सन्यासी कामिनी-काञ्चन को छोड़कर चल देता है, वैसे ही वह मुझको त्यागकर चली गई! जिस प्रकार नागिन केंचुल छोड़कर चली जाती है और पुनः उसे देखने तक को नहीं लौटती, वैसे ही अपनी स्मृति-रूपी केंचुल को छोड़-कर वह नागिन-रूपी रजनी सदैव के लिये चली गई! हा! अब कभी न लौटेगी! अब भी हर तीसवें दिन राका की रजनी आती है और चली जाती है, मरीचि-मालिनी की किरणें गङ्गा की तरङ्गों से अठखेलियाँ करती हैं और चली जाती हैं, संसार निशीथ की निस्तब्धता में सुख-स्वप्न देखता है और फिर जागता है, मन्द-मन्द मलयानिल बहता है और अपनी गति से न-जाने किधर को निकल जाता है, कुमुदिनी हँसती है और पुनः गाल फुला लेती है, मंजुल रसाल-शाखा पर कोयल बोलती है और फिर मौन होकर उड़ जाती है, यौवन के दर्पण में सौन्दर्य

अपनी क्षणिक प्रभा दिखाकर फिर विलीन हो जाता है, गंगा भी अपनी स्फटिक-चूर्णमयी सैकत-शय्या को समेटकर एक जगह से दूसरी जगह चली जाती है; परन्तु मेरी वह अतीत रजनी नहीं लौटती—मेरा यह दुखित जीवन नहीं बदलता। यह दुःख तो स्वप्न में भयाकुल मन की तरह, प्रेम-प्रयास में थके पथिक की तरह, झंझावात के साथ उड़े हुए चीर की तरह मनोव्यथा की सरिता में खड़ा काँप रहा है!

उस दिन क्षण ही भर के लिये उसको देखा था। तभी से, उसी की स्मृति—उसी के प्यार की याद—हाय-हाय !!

प्यारे ! प्यारे !! यह क्यों ? संसार बदल रहा है, सभी रङ्ग पलट रहे हैं, फिर मैं ही क्यों उसके पीछे फ़क़ीर बना फिरता हूँ ? सुख ग़ायब हो गया, जीवन सार-हीन हो गया, आँखें सूज आईं, शरीर कृश पड़ गया, होंठ सूख गये, हृदय शून्य हो गया, कल्पनाएँ शिथिल पड़ गईं, प्रलय का दृश्य अहर्निश आँखों में घूम रहा है; फिर क्यों उसी निष्ठुर

स्मृति—उसी पिशाचिनी स्मृति—के लिये ख़ाक छानता फिरता हूँ? जानता हूँ कि सरोवर में जल नहीं है और हंस उसी में बैठा हुआ कंकड़ चुन रहा है, समझता हूँ कि जलाभाव से कमल-पत्र सूख गये और अरविन्द अपने सर्वस्व को उसी शुष्क पंक में गाड़े पड़ा है, देखता हूँ कि ग्रीष्म की उष्णता ने निर्झरों को सोख लिया है और जल-जीव चट्टानों के दरारों में सटे साँस खींच रहे हैं। यह सब जानता, समझता और देखता हूँ; परन्तु जब सरोवर में जल नहीं है, तो हंस के वहाँ बैठे रहने से क्या प्रयोजन? जब पङ्क तक शुष्क हो गया, तब अरविन्द क्यों उसी में लिपटा हुआ अपनी मिट्टी ख़राब कर रहा है? जब निर्झरों का जल सूख गया, तब जलचर क्यों वहाँ टिके पड़े हैं? यह सब समझ-बूझकर भी, मैं अब भी क्यों उसके उसी प्यार की ओर चला जा रहा हूँ? क्यों मैं उसकी स्मृति को अपनी गोद में बिठलाकर लाड़-प्यार करता हूँ? साँप को चिढ़ाता हूँ—खिजाता हूँ, उससे अपने को कटवाता हूँ, और उसी के विष में

बेहोश पड़ा रहता हूँ—क्यों ? उसके उस प्यार के प्यार में बेहाल बना रहता हूँ—क्यों ?

"इसरारे इश्क़ है दिले मुज़तर लिए हुए।
क़तरा है बेक़रार समुन्दर लिए हुए॥"

—'असग़र'

४—५—१९२६]

'शान्ति' से ब्याह

चंद्रलोक की यात्रा

सुन्दरता में कालिमा

उस दिन जब मैं और मेरा मित्र—'मानव-प्रेम', दोनों एक-साथ, चारपाई पर बैठे बातें कर रहे थे, तब एकाएक 'शान्ति' आकर सामने खड़ी हो गई।

मैंने उससे पूछा—तुम कौन हो ?

उसने धीरे से उत्तर दिया—मैं हूँ 'शान्ति'।

मैंने फिर पूछा—यहाँ क्यों आई हो—दूसरे के मकान में बिना-पूछे-जाँचे एक सुन्दरी बाला का प्रवेश करना क्या उचित है ?

उसने मन्द मुसकान के साथ उत्तर दिया—मेरी इस ढिठाई को प्रकृति और समाज ने माफ़ कर दिया है और मुझे हर-किसी के घर में स्वेच्छानुसार जाने के लिये यह परवाना दे रक्खा है।

इतना कहकर उसने अपने बिखरे हुए स्वच्छ घुँघराले बालों को उठाकर उनमें से एक अत्यन्त सुन्दर आकृति की कोई सुनहरी वस्तु दिखलाई।

मेरे यह पूछने पर कि अच्छा, आई क्यों हो ? उसने तुरत उत्तर दिया कि तुम्हारे साथ ब्याह करने के लिये आई हूँ !

मैं अवाक् हो गया। उसकी निर्लज्जता पर घृणा अवश्य हुई, परन्तु उसकी सुन्दरता ऐसी थी कि तुरत मन में सोचने लगा कि यह अलभ्य वस्तु कैसे मिले। मैंने तुरत अपने मित्र 'मानव-प्रेम' से पूछा—कहो, क्या करूँ ?

उसने हँसकर उत्तर दिया—यह कुलटा है न? भला इससे तुम व्याह करोगे?

मैं चुप हो गया। तुरन्त उसके अधरों पर खेलती हुई हँसी की ओर दृष्टि गई, तो उससे फिर पूछा—अब तुम क्या कहती हो?

उसने कहा—ठीक ही तो है। हम-स्त्रियों के—'सतीत्व और लज्जा'—यही दो मुख्य आभूषण हैं, सो इसमें तो दोनों का अभाव है!

मैंने मन में विचार किया—ऐसी अनुपम वस्तु में यह दोष क्यों? फिर मैंने मित्र के कपोलों पर छिटकी हुई लाली से पूछा—कहो भई, तुम क्या कहती हो? तुम भी कुछ कहोगी?

वह प्रथम तो गम्भीर हो रही। फिर टुक अपना रङ्ग बदलकर कहीं को उड़ गई और क्षण-ही-भर के बाद बसन्ती-साड़ी बदलकर पुनः वापिस आई और मंद-मंद हँसती हुई बोली—तुम्हारा जैसा जी चाहे; मैं क्या कहूँ? मनुष्य तो स्वभाव से ही चंचल होते हैं।

मैंने रुककर पूछा—इसका प्रमाण ?

वह खिलखिलाकर हँस पड़ी। मैं क्षण-भर तक माया-विमुग्ध हो, इस शोखी पर विचार करता हुआ, चुप रहा; फिर उसकी आँखों की पुतलियों से पूछा—आप लोग भी कुछ परामर्श देंगी ?

वे चंचला तो होती ही हैं; मेरे पूछने पर उन्होंने विकट हास्य किया, और एक ही बार की भ्रू-भंगिमा से मेरे मन को अपनी मुट्ठी में कर लिया। फिर त्योरी बदलकर रूखे शब्दों में बोलीं—हम क्या जानें; जो जी में आवे सो करो।

मैं थोड़ी देर तो चुप्पी साधे मर्माहत-सा खड़ा रहा, फिर शांति की ओर देखकर बोला—नहीं भाई, मैं ऐसी स्त्री से विवाह नहीं करता। क्षमा करो।

उसने बड़े ही गम्भीर भाव से कहा—अच्छा तो मैं जाती हूँ।

उसके मुख से जब ये शब्द निकले थे, तो उसके दोनों हाथ नीचे गिरे हुए थे। एक हाथ में वही सुन्दरतम सुख की सुनहरी डिब्बी थी—जिसको

उसने परवाना कहा था। जहाँ से उसने बाल उठा-कर उस डिब्बी को निकाला था, उस स्थान पर वैसे ही बिखरे हुए बाल हवा में हिल रहे थे। मुख पर पूर्व-वत् शान्ति दीप्तिमान थी। उसने पहले से सहस्र-गुण अधिक शान्ति के साथ अपने परवाने को ठीक स्थान पर रख लिया। फिर धीरे-धीरे जैसे शान्ति फैलाती हुई आई थी वैसे ही शान्ति छिटकाती हुई चली गई!

मैं एक-टक उसको उस समय तक देखता रहा, जब तक वह आँखों से ओझल हो गई। वह चली ही गई! मैंने एक आह खींची और घूमकर अपने मित्र 'मानव-प्रेम' को गले से लिपटा लिया। वह भी हँस-हँसकर मुझको चूमने लगा।

थोड़ी देर में मैं 'शान्ति' के आने-जाने की बातों को भूल गया। हम दोनों, समय की गङ्गा में, सुख-पूर्वक हिल-मिलकर स्नान करने लगे—एक-में-एक छाती सटाकर सुख की नदी में डुबकियाँ लगाते थे, और घंटों बाद जब ऊपर आते थे, तब एक दूसरे को चूम लेते थे। मैं उसके मुख पर के सौन्दर्य-

बिन्दुओं को हाथों से पोंछता था और वह मेरे। फिर हम दोनों इर्द-गिर्द के सौन्दर्य-जल पर उठे हुए भाव-रूपी बुदबुदों को मुट्ठी में बाँधते थे और उनके फूट जाने पर ठट्ठा मारकर हँसते थे—हँसते-हँसते परस्पर लिपट जाते और चूमने लगते थे।

इसी प्रकार, स्नान करते समय, हम दोनों, हिल-मिलकर रँगरलियाँ मचाते थे—घंटों एक दूसरे पर पानी उछाला करते थे। कभी-कभी मैं उमङ्ग की एक लहर को पकड़कर उसपर सवार हो जाता था। वह भी उसके पीछे आनेवाली उमङ्ग-तरंग पर कूदकर बैठ जाता था। हम दोनों बहते-बहते मौज की मध्य-धारा तक जाते थे। वहाँ पहुँचकर फिर हम दोनों एक दूसरे पर प्यार के छींटे उछालने लगते थे।

जब हम दोनों की सुख-स्वाँसा अवरुद्ध होने और ऊब की हिचकियाँ आने लगती थीं, तब वह अपनी सवारी पर से कूदकर मेरी मौज-लहरी पर आ बैठता था, और हम दोनों फिर एक में लिपट जाते थे। इतने में वह मुझसे अपने को छुड़ाकर

बेखुदी के किनारे की ओर भाग चलता था। मैं भी उसी की तरह एक लहर से दूसरी लहर पर कूदता हुआ उसका पीछा करता था। विह्वलता के किनारे तक आते-आते जब मैं उसे पकड़ पाता था, तो वह हाँफते-हाँफते मेरी गोद में लेट जाता था, और तब मैं फिर उसको चूमने लग जाता था। वह प्रेम-जल पर उठे हुए उमङ्ग-रूपी बुदबुदों को मुट्ठी में उठा-उठाकर मेरे सिर पर फूलझरी छोड़ने लगता था, और मैं उसके कपोलों पर धीरे-धीरे मीठी-मीठी चपत जमाता जाता था। अपूर्व दृश्य था वह !

एक दिन, राका-रजनी के निशीथ-काल में, मध्याकाश से, चन्द्रमा ने, अपने शरीर के रोम-रोम में शुभ्र रेशम के असंख्य प्रदीप्त धागों को बाँधकर हम लोगों के सम्मुख लटका दिये। मैंने अपने मित्र से पूछा—यह क्या, इसके क्या मानी ? आज तक तो ऐसा कभी न दिखाई पड़ा था ?

उसने कहा—चन्द्र-भगवान् हमें अपने लोक की सैर करने के लिये बुला रहे हैं।

मैंने पूछा—सो कैसे ?

उसने कहा—इन्हीं रश्मि-रूपी डोरियों के सहारे।

मैंने फिर मित्र को चूमकर पूछा—क्या इच्छा है ? चलोगे ?

उसने चुम्बन का प्रत्युत्तर देकर कहा—क्यों नहीं ? लो, चलता हूँ।

वह उठ खड़ा हुआ। उस रश्मिरज्जु-पुञ्ज के दो भाग करके एक को मुझे थमाया और दूसरे को आप पकड़कर धड़ाधड़ ऊपर की ओर चढ़ने लगा। मैंने भी उसका अनुकरण किया। दम-भर में हम दोनों चंद्र-लोक में पहुँच गये !

वहाँ पहुँचकर वह खड़ा हो गया। पैर से चंद्रमा को छूकर मेरे कानों में कहा—यह तो बड़ा ही शीतल है !

मैंने कहा—सुन्दर भी तो वैसा ही है !

इसपर उसने हँस दिया। मैंने सतर्क होकर पूछा—हँसते क्यों हो ? क्या सुन्दर वस्तु उष्ण ही होती है ?

उसने व्यंग्य-ध्वनि से कहा—कौन कहता है ?

मैंने पुनः पूछा—यह चंद्रमा पृथ्वी से कभी-कभी अर्द्ध क्यों दिखाई देता है ? और यदि अर्द्ध ही है, तो राका की रात्रि में पूर्ण कैसे हो जाता है ?

उसने हँसकर उत्तर दिया—जैसे मैं और तुम।

मैं चुप हो गया। वह हँस पड़ा ! मैंने फिर कहा—अच्छा, चलो, चंद्र-लोक घूम तो लो।

वह धीरे-धीरे एक तरफ चल पड़ा। मैं भी उसके पीछे-पीछे चला। एक छोर से दूसरे छोर तक हम लोगों ने चक्कर मारा। अन्त में रुककर उसने आश्चर्य के साथ कहा—देखो इसकी शीतलता और सुन्दरता !

मैंने कहा—इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ?

वह चुप रहा; कोई प्रत्युत्तर न देकर चन्द्रमा को निहारता रहा।

इस समय हम दोनों ठीक चंद्रमा के शीतल हृदय पर खड़े थे। मेरी दृष्टि उसकी हृदय-कालिमा पर पड़ी। मैं सहसा चिल्ला उठा—अरे ! यह क्या ? ऐसी शीतलता-दायिनी सुन्दरता में यह कालिमा क्यों ?

मित्र ने दृढ़ता के स्वर में कहा—इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अपराजिता अपने श्याम हृदय से ही सुन्दर कही जाती है। यदि सुन्दरता में कालिमा नहीं, तो वह भौतिक सुन्दरता ही नहीं। अच्छा, भीतर चलकर देखोगे ?

मैंने बड़ी उत्सुकता से कहा—हाँ, अवश्य चलूँगा।

उसने अपने तीक्ष्ण नखास्त्रों से चंद्रमा की पसलियों में से एक को धीरे से हटाया। फिर हम दोनों अन्तस्तल में जा रहे ! वहाँ देखा, तो निर्धूम भस्मराशि ! प्रसाद-गुण-पूर्ण हृदय का कहीं पता नहीं ! आह्लादकारी हृदय का कहीं कोई चिह्न तक नहीं !

मैंने आश्चर्य से अपने मित्र की ओर देखा और उससे पूछा—यह क्या देखता हूँ ?

उसने कहा—जो देखते हो वही देखते हो।

मैंने कहा—मैं तो यहाँ भस्मराशि देख रहा हूँ !

उसने भी कहा—मैं भी तो यही देखता हूँ।

मैंने पुनः उत्सुक होकर पूछा—इसके अतिरिक्त यहाँ और कोई दूसरी वस्तु भी है ?

उसने झट से अपने हाथों को उसी भस्मराशि में घुसेड़ दिया, और दोनों मुट्ठियों में भरकर पश्चात्ताप के जलते हुए अंगार बाहर निकाले, तथा मेरे सामने मुट्ठियों को खोलकर कहा—और इस राख के अलावे ये हैं !

मैं घबड़ाकर कह उठा—यह क्या किया ! यह क्या किया !!

उसने झट अंगारों को फेंककर फफोलों से भरी हथेलियों को मेरी आँखों के सामने पसार दिया !

मैंने पूछा—यह क्या हुआ ?

उसने कहा—उसी पश्चात्ताप की ज्वाला के कुसंसर्ग का परिणाम है ।

मेरे नेत्रों में आँसू भर आये, मैंने उसके हाथों को चूमकर कहा—क्या मैं कहने से न समझता कि अपने हाथों को जला दिया ? यही तो तुममें बुरी आदत है !

उसने उत्तर दिया—इन हाथों के साथ-साथ तुम्हें भी तो जलाया। आप जलकर दूसरों को जलाने में भी आनन्द है ।

मैंने उसके कपोलों पर धीरे से एक-एक चपत जमाई, और पूछा—फिर कभी ऐसा करोगे ?

उसने कहा—ना, कभी नहीं।

मैंने उसकी हथेलियों को चूम-चूमकर उसकी दाह मिटाई। जब दाह मिट गई, तब हम दोनों बाहर आये—चंद्रमा वैसा ही खिल-खिलाकर हँस रहा था। मैंने मन में कहा—भला जिसके हृदय में पश्चात्ताप की इतनी बड़ी भस्मराशि और अंगार-पुञ्ज वर्त्तमान है, वह इस तरह कैसे हँसता है!

सौन्दर्य की तथ्यता

सकामता में निष्कामता

'पाणि-ग्रहण'

हम दोनों पूर्ववत् चंद्र-रश्मि के शुभ्र रज्जु को पकड़कर पृथ्वी पर क्रम-से उतर आये। यहाँ आने पर देखा कि ठीक हमारे घर के सामने एक अत्यन्त सुन्दर रमणी सौन्दर्य-सरोवर में नहा रही है। उसके पैर तक लटके हुए घुँघराले-काले केश मन्द पवन के

साथ लहरा रहे हैं। उसका मुख ठीक चंद्रमा के मुख-जैसा तेजोमय और कान्तिपूर्ण था। वह भी चंद्रमा-ही-जैसा खिलखिलाकर हँस रही थी।

मैंने अपने मित्र से पूछा—क्यों भई, यह कौन है? यह तो चंद्र-सी ही दीख रही है।

मित्र ने इसका कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। वह चुपचाप, एक-टक, उसी की ओर ताकता रहा। तदनंतर 'अच्छा, आओ, आगे चलें' यह मुँह-ही-मुँह में कहता हुआ आगे बढ़ा। मैं भी कौतूहल-वश उसी के साथ चला। वह उस रमणी के मुखारविन्द पर मंजुल मलिन्द की तरह बैठकर मुझसे हँसकर बोला—तुम भी यहीं बगल में चले आओ।

मैं उछलकर मित्र की बगल में जा बैठा। मेरे वहाँ जाते ही मालूम हुआ कि उसके मुख पर कुछ बोझ पड़ रहा है। मेरे मित्र ने हँसकर कहा—देखा, कैसा शीतल है!

मैंने अपने हाथों से रमणी के कपोलों को स्पर्श किया। वे चंद्रमा के कपोलों से भी अधिक शीतल थे!

मैंने कहा—यह तो चंद्रमा के कपोलों से भी अधिक शीतल है !

मित्र ने गम्भीर होकर कहा—यह नश्वर सौन्दर्य है। जब तक यह अबोध है, यौवन की उद्दाम वासना से अछूत है, तभी तक इसमें शीतलता का भी आभास होता है। इसके अन्दर एक प्रकार की विषम अग्नि निहित है। कौमार्य के उपरान्त इसमें शीतलता का वास कहाँ ? यौवन की ज्वाला से, कुछ काल में ही, यह सारी शीतलता उत्तप्त होकर खौल उठेगी।

मैं अवाक्-सा होकर मित्र का मुँह निहारने लगा। उसने पुनः कहा—अच्छा, इस रमणी के अभ्यन्तर की भी परीक्षा करोगे कि उसमें भी भस्म-राशि ही है या हृदय भी है ?

मैंने टुक सचेत होकर कहा—हाँ-हाँ, यही तो देखना है।

उसने भावनाओं की जेबी सीढ़ी—Pocket Ladder—अपने हृदय से निकाली और उसे

रमणी के कपोलों पर टेककर उसके नेत्रों में जा बैठा। मैंने पूछा—कहाँ जाते हो?

उसने कहा—आओ, भीतर देखें।

मैं भी उसी का अनुकरण करके रमणी की आँखों में जा बैठा, और फिर वहीं से हम दोनों उसके अभ्यन्तर में कूद पड़े। वहाँ जाते ही मित्र ने कहा—देखो तो, यहाँ भी कहीं भस्मराशि है?

मैंने इधर-उधर आँख दौड़ाई—कहीं कुछ न था! कैसा चिकना, चमकता हुआ, स्वच्छ, उज्ज्वल हृदय था!

मैंने उस हृदय का स्पर्श किया—वह बड़ा ही शीतल था! कहा—नहीं मित्र, यह तो वैसा नहीं है; इसमें तो शीतलता और सुन्दरता दोनों वर्त्तमान हैं।

उसने धीर-शान्त होकर कहा—अच्छा, मेरे हृदय को तो छूओ, यह शीतल है या उत्तप्त?

मैंने उसके हृदय को छूकर देखा, कहा—भाई, यह तो जल रहा है! ऐसा तो कभी न हुआ था!

उसने हँसकर कहा—इसी से तो तुमको अबोध बच्चा कहा करता हूँ। तुम मेरे नाम को जानकर भी,

उसके वास्तविक तात्पर्य से, इतने दिनों में, अभिज्ञ न हुए ?

मैं भौचक्का-सा होकर मित्र का मुख निहारने लगा; पूछा—क्या कहा तुमने ? इसके क्या मानी ?

वह साफ़ कुछ न बोला; धीरे से उत्तर दिया—इसको याद रक्खो, किसी दिन समझ ही जाओगे। अच्छा, इस रमणी के हृदय को अब फिर से तो देखो।

मैंने इस बार जो देखा, तो उसका सारा हृदय तो वैसा ही शीतल और उज्ज्वल था; परन्तु उसके एक कोने में ज़रा-सी आग सुलग रही थी। मैंने चिल्लाकर कहा—अरे! यह देखो, एक कोने में आग जल रही है!

मेरा मित्र खिलखिलाकर हँस पड़ा। बोला—अभी सुलग रही है, उसको मसलकर बुझा दो।

मैं झट बैठ गया और दोनों हाथों से उसके हृदय को मसलने लगा। परन्तु ज्यों-ज्यों बुझाने का प्रयत्न करता था, त्यों-त्यों आग बमकती ही जाती थी। मैंने फिर चिल्लाकर कहा—अरे! यह तो बुझती ही नहीं।

मेरे मित्र ने तो कुछ उत्तर नहीं दिया, परन्तु ऊपर से रमणी ने एक आह-भरी दीर्घ साँस खींचकर जवाब दिया—भई, यह जो तुम आग बुझा रहे हो, सो यह अब शीघ्र बुझनेवाली नहीं। इसी तुम्हारे मित्र-जैसे अपात्र से प्रेम करने का यह फल है। मैंने तो इसे निष्काम समझ इसी से प्रेम करने में सुख समझा था; पर अब इसकी बातों ने सारे भेद खोल दिये। थोड़ी देर में तुम देख ही लोगे, यह हृदय भी, चंद्र-हृदय के समान, पश्चात्ताप की भस्मराशि और चिनगारियों से भरपूर हो जायगा, और शायद कुछ दिनों में तुम्हारा हृदय भी इस अपात्र को मित्र बनाने के शोक में ऐसा ही हो जायगा। परन्तु एक बात बताये देती हूँ—तुम्हारे इस मित्र का यह कहना कि 'सौन्दर्य जब तक अबोध है, तभी तक उसमें शीतलता है, इसके अनन्तर नहीं' सर्वथा असत्य है। यद्यपि मेरा शरीर नश्वर अवश्य है, जैसा कि सारी सृष्टि के जीव-मात्र का है, तथापि मैं स्वयं अनादि हूँ! जिस तेज:पुंज का मैं प्रकाश हूँ, वह तो नश्वर नहीं

है ? वह तो निष्काम, निष्कलंक, निरामय और निरीह है। उसमें किसी प्रकार की कामना या क्लेश का लेश भी नहीं है। वह सौन्दर्य-निकेतन है, तेजोराशि ज्योतिर्मय है। समग्र सृष्टि में, अखिल ब्रह्मांड में, उसी के द्वारा सौन्दर्य वितरित होकर पुनः उसी में अन्तर्लीन हो जाता है। उस अक्षय सौन्दर्य-धाम की प्रतिमा तुम अपनी निष्काम आँखों से सर्वत्र देख सकते हो। उसके विना कहीं कुछ नहीं है। वही सर्वाधार है। बस, हटो, जाओ यहाँ से, शीघ्र भागो, इस कृत्रिम मित्र की निष्प्रयोजन मैत्री का परित्याग कर निष्कामता को अपनाओ। इसी में कल्याण है।

मैं उठकर अपने मित्र के गले से लिपट गया। पूछा—प्यारे, यह क्या कह रही है ? यह किस माया की वाणी है, मुझे समझाओ।

उसने आलिङ्गन का प्रत्युत्तर न देकर सूखे स्वर में कहा—जाओ, घर जाओ।

मैंने घबड़ाकर, उत्कंठा-पूर्वक, पूछा—और तुम ?

उसने कहा—मैं भी चलता हूँ। तुम चलो तो।

मैंने ऊपर आकर देखा, तो वह नहीं आया था। नीचे देखा, वह उस रमणी के हृदय से दूर खड़ा हो उसका जलना देख-देखकर हँस रहा है!

मैंने आतुर होकर कहा—अरे आते नहीं, वहाँ क्या करते हो?

उसने मेरी ओर देखा और हँसकर कहा—अब यहाँ मेरी या तुम्हारी आवश्यकता ही क्या है? यदि कुछ चाहते हो, तो यह लेते जाओ।

इतना कहकर उसने रमणी के हृदय में हाथ डाला और एक मुट्ठी पश्चात्ताप की चिनगारियों को लेकर मेरी ओर फेंक दिया।

न मालूम वे कैसी चिनगारियाँ थीं—सब-के-सब, विना ऊपर के चमड़े को जलाये हुए ही, हृदय में जा बैठीं। मैं पीड़ा से व्याकुल हो चिल्ला उठा। नीचे से वह ठठाकर हँस पड़ा।

मैं वैसे ही चिल्लाता हुआ रमणी के मुखारविन्द से नीचे उतरा। देखा, उसका मुख तो वैसा ही शीतल और दीप्तिमान था; परन्तु उसमें वह हँसी नहीं थी।

उसकी आँखों से अश्रु बह रहे थे। चिल्लाते और कराहते हुए मैंने धीरे से पूछा—बहन, इतनी जल्दी ऐसा परिवर्त्तन ?

रमणी ने हँसकर कहा—भैया, पश्चात्ताप का रङ्ग सर्वत्र काला होता है, इसकी जलन बड़ी ही तीव्र एवं दग्धकारी है। अच्छा ही हुआ, विना ठोकर खाये चलने नहीं आता, विना गिरे उठा नहीं जाता। अब तुमने इस मित्र की सकामता को पहचान लिया। अब इसे परित्याग कर इसके विपक्षी को अपनाना चाहिये। जाओ भैया, पश्चात्ताप तो इतना शीघ्र मिटता नहीं; परन्तु यदि हो सके, तो 'शान्ति' से भेंट करना और उससे ब्याह का प्रस्ताव भी करना; उस दिन तुमने उसे निरर्थक—विना समझे-बूझे—इसी सकाम मित्र के पीछे, ठुकरा दिया था। हा ! मनुष्य कितना अज्ञानी है !

मैंने उसकी बातों को कुछ न समझा। परन्तु उसके शब्दों के एक-एक अक्षर को हृदय-पटल पर अंकित कर लिया। घर आया। कुछ दिनों के उप-

रान्त, एक दिन, जब मस्तिष्क टुक ठिकाने आया तब, अपने अन्तस्तल में हाथ डालकर देखा, तो केवल राख और अग्नि का ढेर पाया—हृदय का तो कहीं पता ही न था !

उस दिन जैसे चंद्रमा के हृदय में राख देखकर विस्मित हुआ था, वैसे ही विस्मित होकर हँस दिया। बरसों चारपाई पर पड़ा-पड़ा रोता-कराहता रहा। किसी भी वस्तु में मन नहीं जमता था। उस रमणी के वाक्यों को नित्य-प्रति रटा करता था। एक दिन सहसा उसका अर्थ समझ में आ गया ! जी में तुरत ठान लिया कि अब चलकर 'शान्ति' से ब्याह कर लूँ।

ज्यों ही चारपाई से उठकर टेकने के लिये लाठी उठा रहा था कि वही रमणी, साथ में 'शान्ति' को लिये हुए, हँसती हुई, सामने आकर खड़ी हो गई। मेरे नेत्रों में सहसा आँसू छलछला आये !

रमणी ने मुझे अपनी गोद में बिठला लिया और कहा—छोटे भैया, इस शुभ अवसर पर यह क्या कर रहे हो ? क्या मेरी बातों का अर्थ अभी तक नहीं

समझ पाये ? भैया, यह विवाह का अवसर है, 'शान्ति'-भाभी आई है, उठो—इसका पाणि-ग्रहण करो। विषाद न करो।

मैंने अवरुद्ध कंठ से उत्तर दिया—बहन, मैं तुम्हारी बातों को पूर्ण रूप से समझ गया हूँ, और तुम्हारे 'शान्ति' को यहाँ लिवा लाने के पूर्व ही मैंने इससे विवाह भी कर लिया है! मेरे हृदय में यह आसीन हो गई है—आँखों में बस गई है। किन्तु बहन, तुमसे एक प्रार्थना है। तुमने अपना विराट् सौन्दर्य अभी तक नहीं दिखलाया। क्या मुझे तुम्हारी इस कृपा से आजन्म वंचित ही रहना पड़ेगा ?

इतना कहते-कहते मेरी आँखों में फिर आँसू भर आये। उस रमणी की आँखों में भी आँसू उमड़ आये उसने हँसकर अपने विराट् सौन्दर्य के दर्शन कराये। मैंने उसमें देखा कि अनेकानेक ब्रह्मांडों का सौन्दर्य केन्द्रीभूत होकर चमक रहा है। मेरे चर्म-चक्षु उसके तेजोमय प्रकाश के सम्मुख न टिक सके। मैं घबड़ाकर बैठ गया।

वह रमणी धीरे से आगे बढ़ी। उसने मेरे हाथों को पकड़कर मुझे उठाया, और 'शान्ति' का हाथ लेकर मेरे हाथों में देती हुई बोली—यह लो, 'शान्ति' आज से तुम्हारी हुई, इसे अपनाओ और अपरिमेय आनन्द का रसास्वादन करो।

१६—९—१९२६]

विषय-वासना

१

जब मेरी विषय-वासना मुझसे रूठकर, हँसी की गठरी को अपने सिर पर उठाकर, उछलती-कूदती, उमङ्ग-भरी रँगरलियाँ मचाती, अनन्त की ओर ताकती, अदृश्य की ओर चली जा रही थी, तब लाख प्रयत्न करने पर भी, अपने अन्तरंगी मित्र के लाख बार समझाने पर भी, मुझसे रहा न गया। मैंने दौड़-

कर उसके दामन को पकड़ लिया और गद्गद कंठ से, सजल नयनों से, आर्त्त शब्दों में, लौट चलने के लिये उससे अनुनय-विनय किया। कहा—मुझे छोड़कर मत जाओ। तुम्हारे चले जाने से मैं अकेला, असहाय, निरवलम्ब और निरानन्द हो जाऊँगा। मेरा जीना दूभर हो जायगा। तुम्हारे ही सहारे अद्यावधि मैं जीवित था। अब अन्त समय मुझे क्यों छोड़ती हो? चलो, लौट चलो; किसने तुम्हें जाने के लिये कहा? किसने तुम्हें बिदा दी?

मेरे दीनतापूर्ण करुण-शब्दों को सुनकर वह चुप खड़ी हो मेरी ओर ताकने लगी। कतिपय क्षण तक तो वह उसी तरह खड़ी रही; अनन्तर वात्सल्य-सूचक शब्दों में बोली—तुम कैसी बातें करते हो? एक ओर तो पूछते हो कि तुम्हें जाने के लिये किसने कहा, और दूसरी ओर एक अदृश्य पारलौकिक पदार्थ से प्रेम करके नाना प्रकार के कष्ट उठाते हो। मैंने प्रथम ही तुमसे कह दिया था कि प्रेम बुरी बला है, इसे अपनाकर पछताओगे; तिस पर अदृश्य पारलौकिक

वस्तु का प्रेम तो और भी निष्ठुर है, उसे कदापि अंगीकार न करना। पर तुमने नहीं माना ; अब जो मैं तुम्हारे पास रहूँ तो कैसे रहूँ ? तुम दो परस्पर-विरोधियों को एकत्र करना चाहते हो, जो सर्वथा असम्भव है। प्रेम में क्लेश है, क्रन्दन है, आन्तरिक वेदना है। फिर जहाँ क्रन्दन ही का बोलबाला है, वेदना ही की तूती बोलती है, क्लेश ही का साम्राज्य है, वहाँ मेरी इच्छाओं की पूर्त्ति कैसे होगी ?

मैंने स्पष्टता और दृढ़ता के साथ कहा—हाँ, तुमने यह बात समझाई तो थी, पर मैं कर ही क्या सकता था ? तुमसे कोई बात छिपी थोड़े ही है ?

उसने कहा—तुमको यह भी स्मरण होगा कि मैंने तुमसे प्रथम ही कह दिया था कि मेरा अब तुम्हारे यहाँ रहना दुस्तर होगा; किन्तु तुमने उसकी परवा नहीं की। तुम सदैव अपने उसी निष्ठुर कल्पित प्रेमी के कृत्रिम प्रेम में भूले रहे, और अद्यावधि भूले ही हो ! ऐसी दशा में तुम्हारे यहाँ से मेरा प्रस्थान करना क्या न्याय-संगत नहीं है ?

मैंने कहा—नहीं, कदापि नहीं ; प्रत्यक्ष अन्याय है। मुझको स्पष्ट स्मरण है कि तुमने वैसा ही कहा था. और यह भी सत्य है कि मैंने तुम्हारे आदेशों की परवा नहीं की, तथा मित्र के प्रेम को भी अद्यावधि सत्य मान रहा हूँ—तुम्हारे कथनानुसार उसके असत्य होने की कभी-कभी आशंका करके भी मैं उसे सत्य ही मानता रहा। परन्तु करूँ क्या ? विवश हूँ !

उसने हँसकर कहा—जब उसपर शंका करते हो, तब वह मनसा-वाचा-कर्मणा सत्य कैसे माना गया ?

मैंने उत्तर दिया—ठीक है, पर बुद्धि भी तो विना तर्क के नहीं रहती, विरह-व्यथा के आधिक्य में वह अपनी सत्यता प्रमाणित कराने के लिये अवसर ढूँढ़ने लगती है। अब तो चाहे सत्य हो या असत्य, हृदय की लगन उधर लग गई है, और सत्य ही जान कर लगी भी है ; अब मैं नितान्त विवश हूँ, अब उसको भूल जाना असम्भव-सा प्रतीत होता है।

उसने भाव-भङ्गी के साथ कहा—असम्भव कदापि नहीं है। यदि तुम अपनी बुद्धि का कहना मानो,

उससे परामर्श लेकर उसके कथनानुसार काम करो, तो तुम उसके निष्ठुर प्रेम को तुरत ही भूल जाओगे, इसमें कोई संशय नहीं है।

मैंने कहा—अपनी बुद्धि से मैंने परामर्श लिया था। उसने परेशान होकर इसके विस्मरण के लिए एक उपाय बताया भी था, और दुख सहते-सहते ऊब-कर उस उपाय को मानने के लिये कभी-कभी जी भी चाहता था; परन्तु करूँ क्या, उसके आदेशानुसार चलने की चेष्टा करने में न मालूम क्यों हृदय विवश हो जाता है, हाथ-पाँव आवद्ध-से हो जाते हैं, और स्वयं मैं कुछ कर नहीं पाता।

उसने खीजकर कहा—तुम्हारे हृदय ने ही तो सब कुछ किया और अब भी कर रहा है। वह उसके अत्याचार, तिरस्कार और घृणा को सहने ही में आनन्दित है, तो मैं क्या करूँ?

मैंने निश्चयात्मक भाव से उत्तर दिया—तो मैं भी क्या कर सकता हूँ? बुद्धि के उपदेशानुसार अपने को समझाने तक ही तो मेरा वश है? उसके बाद कोई

इस उपदेश को न माने, या मुझसे वैसा न हो सके, तो मैं कर ही क्या सकता हूँ ?

इतना कहकर मैं चुप हो रहा, आकाश की ओर ताकने लगा। हृदय में एक विलक्षण क्षोभ और नैराश्य का प्रादुर्भाव हो रहा था।

इतने में सहसा वह मेरी ओर फिरी और घृणा की हँसी हँसकर बोली—अच्छा, अब मुझे जाने दो, प्रणाम !

बस इतना कहकर वह झट-से घूम पड़ी और धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगी। उसके घूमते ही मेरी आँखों के सामने अँधेरा-सा छा गया। कुछ देर बाद जब चेतना लौटी, तो देखा कि मेरे भाग्याकाश का प्रकाश उसी के साथ-साथ अदृश्य में विलीन हो रहा है—मेरे सांसारिक जीवन की चुलबुलाहट, उसी के पीछे-पीछे दौड़ती हुई, मेरी आँखों से ओझल हो रही है—प्रकृति की सुषमा, ऐश्वर्य की सुश्रूषा, माया की उपासना और मन की वासना भी उसी के साथ-साथ दौड़ी चली जा रही है !

अपने इतने अन्तरङ्ग इष्ट-मित्रों को एक साथ ही निकल-भागते देखकर मुझसे नहीं रहा गया। सहसा मेरे पाँव स्वतः चल पड़े—उसी के पीछे-पीछे मुझे भी ले चले।

दस-बीस क़दम जाकर वह रुक गई, पीछे घूमकर मुझे देखा, और गम्भीर भाव से पूछा—अब क्यों चले आते हो?

मैंने भयभीत की भाँति उत्तर दिया—तुम्हें छोड़-कर अकेले वापस जाते नहीं बनता!

उसने पूर्ववत् दृढ़ होकर उत्तर दिया—इसी से तो तुमको पागल कहती हूँ, और ऐसे ही पागलों से मुझे चिढ़ है।

मैंने प्रकम्पित स्वर से निवेदन किया—पागल हूँ, यह तुम सत्य कहती हो—परन्तु, क्या मुझपर दया नहीं हो सकती? दया करना तो प्रत्येक प्राणी का धर्म है न?

इन शब्दों को सुनते ही उसकी मुखाकृति गम्भीर हो गई। फिर करुणा की एक अलक्ष्य रेखा धीरे से एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड़ गई; परन्तु

उसके नेत्रों की उज्ज्वलता ने दया के उमड़े हुए स्रोत को तुरत ही भीतर रोक दिया।

करुणा की जो नदी, हृदय-गह्वर से निकलकर, आँखों की राह, बड़े ही वेग के साथ, बाहर आना चाहती थी, उसको लोक-लज्जा ने बड़े ही कौशल से इस तरह भीतर ही रोक दिया कि मानों उसका कभी अस्तित्व ही न रहा हो!

वह धीरे से मुसकराकर बोली—ख़ैर, तुम तो मुझसे दया चाहते हो, और साथ ही, उससे प्रेम करना छोड़ते भी नहीं, और फिर यह भी मानते हो कि मेरा उसके साथ रहना असम्भव-सा है; तब बताओ कि इस दशा में मेरा कर्त्तव्य ही क्या हो सकता है?

उसे आगे बोलने का अवसर न देकर मैं बीच ही मे बोल उठा—जो पात्र है, जो योग्य है, उसपर दया कैसी? 'दया' तो उसी को कहते हैं, जो पात्र-अपात्र का विचार त्यागकर वितरित की जाय।

उसने हँसकर कहा—हाँ! भले आदमी तो उसीको 'दया' मानते हैं; परन्तु वैसी दया शायद

मेरे सूक्ष्म रूप से ही सम्बन्ध रखती होगी, मेरे भौतिक रूप से और उस दया से क्या प्रयोजन ?

मैंने करुणापूर्ण शब्दों में कहा—तुम बड़ी पंडिता हो, तो अपनी पंडिताई अपने साथ रक्खो। एक अपढ़ अज्ञान भिखारी से तर्क करना उचित नहीं है। मैं दया का भिखारी हूँ। मुझे दया चाहिये। मुझे दया दो। बस!

उसने मेरी ओर देखकर अट्टहास-पूर्वक उत्तर दिया—तुम भिखमंगे हो और मुझसे मेरा सर्वस्व ही माँग रहे हो। भला किसी भिखमंगे के कहने से कोई अपना जीवन-सर्वस्व उसको दे सकता है ? यदि दे दे तो उसे मूर्ख के अतिरिक्त लोग और क्या कहेंगे ? विचारो तो सही ?

मैंने कुछ दृढ़ होकर कहा—दया का तो यही मतलब ही है कि दूसरों के लिये अपने जीवन-सर्वस्व तक से भी हाथ धो दे।

उसने कहा—हाँ, भावुक लोग यही कहते हैं; परन्तु मैं तो भावुक नहीं हूँ; मैं ऐसी दया को एक

क्षण भी नहीं निबाह सकती। मेरी 'ड्यूटी' बहुत बड़ी है, सारे संसार के प्रत्येक शरीरी के यहाँ मुझको जाना पड़ता है। भला मैं एक ही व्यक्ति के यहाँ जाकर कैसे रहूँ? मैं तो 'ट्रैवलिंग-एजेंट' की तरह मुकर्रर की गई हूँ कि प्राणी-मात्र के यहाँ घूम-घूमकर, उस सर्वव्यापक के अमोघ आनन्द के अस्तित्व को, किसी-न-किसी रूप में, सब को जना दूँ। परन्तु फिर भी मैं वापस चलने को तैयार हूँ—बशर्ते कि तुम मेरी उपस्थिति से स्थायी सुख पा सको—कुछ वास्तविक लाभ उठा सको। बताओ, तुमको सुख ही होगा? बोलो?

मैं अवाक् हो उसका मुँह ताकने लगा। समझ में न आया कि क्या कहूँ। मस्तिष्क ने धीरे से कान में कहा—हाँ जी, इसको ले चलो, मैं इसकी सहायता से तुम्हारे मन को धीरे-धीरे उधर से हटा दूँगा—तुम्हें स्थायी रूप से सुखी कर दूँगा।

बुद्धि ने भी मस्तिष्क की बातों का समर्थन किया। मन ने भी मनन करके निश्चयपूर्वक कह

दिया—हाँ, ठीक है, इसको मना-मुनूकर वापस ले चलो, सब ठीक हो जायगा।

मैं चुप रहा। किसी के कहे का कोई उत्तर न दिया, सबके परामर्शों को सुनकर अपने हृदय की ओर घूमा, और उससे कुछ पूछना चाहा; किन्तु मेरे मुख से एक शब्द भी नहीं निकल पाया था कि इतने में उसने मेरी दीन दशा पर तरस खाकर रोना शुरू कर दिया। उसके नेत्रों से अजस्र अश्रुपात होने लगा। मैं अकर्मण्य-सा हो रहा!

मुझे भी एकाएक रुलाई आ गई। किसी प्रकार गला साफ़ करके पूछा—मैं अपनी विषय-वासना को मनाकर वापस लाने गया था। वह कहती है कि उसके लौटने से यदि मेरी कुछ भलाई हो, तो उसको वापस आने में कोई आपत्ति नहीं है। मेरे शारीरिक साथियों ने जो परामर्श दिये, उनको तुमने सुन ही लिये। तुम्हारे ही आदेशानुसार अद्यावधि मेरे सब कार्य हुए हैं। अब बताओ कि मैं उससे क्या कहूँ—क्या करूँ? निश्चित परामर्श दो।

मेरे प्रश्न को सुनकर उसने एक लम्बी साँस ली और धीरे से उत्तर दिया—मैं क्या कहूँ? तुम जो कुछ करो, वही मुझे स्वीकार है।

मैंने पूछा—क्या मस्तिष्क के कथनानुसार तुम सुखी हो सकोगे?

उसने मुस्कुराकर प्रत्युत्तर दिया—मैं दुःखी कब था? और अब भी क्या दुःखी हूँ?

मैंने भी मुस्कुराकर व्यंग्य-ध्वनि में पूछा—माफ़ करना, फिर रोते क्यों हो? यदि सुखी ही हो, तो यह रोना कैसा?

उसने कहा—सुख के उबाल से—आनन्द के उद्रेक से—हर्षोल्लास से। सुख के आधिक्य से भी तो रुलाई आ ही जाती है?

मैं—फिर खिन्न-मना क्यों रहा करते हो?

हृदय—सुख पाने के लिये!

मैं—जब तुम सुखी हो, तो सुख प्राप्त करने की साधना की कौन-सी आवश्यकता है? किसी वस्तु की साधना तभी तक की जाती है, जब तक वह

वस्तु मिल नहीं जाती—जब तक ध्येय प्राप्त नहीं हो जाता। जब तुम सुखी हो, तो सुख प्राप्त करने की साधना कैसी—सुखाकांक्षा कैसी ?

हृदय—यह ठीक है; परन्तु विना साधना के प्राप्त वस्तु भी स्थायी नहीं रहती। विना रोये कोई स्थायी रूप से सुखी नहीं होता।

मैं—तब यों कहो कि तुम रोने को ही हँसना मानते हो!

मेरी यह बात सुनकर 'हृदय' की आँखों से अनर्गल अश्रुधारा फूट चली। फिर विषाद की हँसी हँसकर शान्त भाव से उसने उत्तर दिया—ठीक कहते हो, रोना ही हँसना है! जो रोकर नहीं हँसता है, वह हँसना नहीं जानता। जो विना रोये ही हँसता है, उसकी हँसी शुष्क होती है; और जो विना हँसे ही हँसता है, उसका रोना भी निरर्थक है।

मैं—तब क्यों यह दोषारोपण किया करते हो कि वह छलिया है—उसने मेरा सर्वनाश किया—अपने नीरस एवं निष्ठुर प्रेम से मेरे सरस-सदय

हृदय को खरीद लिया—मैंने अपने हीरे को काँच के भाव बेच दिया ?

पांडित्य-सूचक हँसी के साथ उसने उत्तर दिया—प्रथम तो यह कि प्रेम का वास्तविक सुख विरह में है, और मेरा प्रेमी मेरे आनन्द का इच्छुक तथा मेरी धीरता एवं सत्यता का परीक्षक है। वह विरह के व्याज से ही मेरी परीक्षा करता और वास्तविक आनन्दानुभूति का अवसर देता है। दूसरा यह कि विरहावस्था में मन की परिस्थितियों के अनुसार भाव-विशेष के प्रवाह में बहना ही पड़ता है, और तभी आनन्द भी मिलता है। एक प्रकार अब मुझे रोने से ही सुख-शान्ति या आनन्द मिलता है, अथवा हँसी आती है।

मैं—तब यों कहो कि प्रकारान्तर से पश्चात्ताप करता हूँ।

हृदय—नहीं-नहीं, पश्चात्ताप तो केवल इतना ही है कि मैंने अपने प्रेम का प्रारम्भ पहले-पहल—जब वासना साथ थी—नीरसता के साथ किया था।

नहीं तो और शीघ्र ही इस अवस्था को प्राप्त हुआ होता ! पश्चात्ताप तो केवल उसी अनिष्टकर प्रारम्भ का है। अब तो सब बातें अच्छी हैं। अब किसी भी बात का पश्चात्ताप मुझे नहीं है। वासना ने मुझको छला, अच्छा किया ! वह रूठकर चली गई, अच्छा हुआ ! मुझको अपने लोलुप प्रेमी के प्रथम मिलन में तिरस्कार के वृश्चिक-दंश सहने पड़े, अच्छा हुआ ! तुम वासना को मनाने चले, यह भी अच्छाई से रहित नहीं है। वह यदि वापस आयेगी, तो यह भी अच्छा ही होगा। अपने प्रेमी के प्रति मेरे प्रेम में कोई कमी या विघ्न न हो—पूर्ववत् आद्यन्त वैसी ही लगन लगी रहे, बस इसी में मेरी वास्तविक भलाई है। नहीं तो इसका होना और न होना—दोनों—मेरे लिये अच्छा ही है। मेरा प्रेम सच्ची लगन से भरा और एकांगी हो, बस मेरी शान्ति इसी में है।

मैं—इससे तुमको कष्ट होगा।

हृदय—इसकी परवाह नहीं। ये भौतिक शारीरिक कष्ट मुझको कष्ट नहीं देते।

मैं—तो क्या कहते हो ?

हृदय—अब क्या कहना ही शेष रहा ?

मैं—यही कि उससे क्या कहूँ ?

हृदय—वह पूछती क्या है ?

मैं—यही कि उसके लौट आने से मेरी वास्तविक भलाई हो सकेगी ?

वह—यदि मेरे सम्बन्ध में पूछते हो, तो मुझे तो उसके रहने से न सुख होगा और न चले जाने से दुःख । उसका जाना और रहना, मेरे सामने एक समान है । तुम अपना देख लो । मेरा ख़याल छोड़कर जैसा जी चाहे, वैसा करो । मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी । मैं अब व्यसन में अनुरक्त नहीं हूँ ।

मैंने अपने मन में सोचा—मुझमें और मेरे हृदय में अन्तर ही क्या है ? मेरा वास्तविक निवास-स्थान तो यही न है ? जैसा यह होगा, वैसा ही मुझको होना पड़ेगा । और फिर भी, बातें तो ठिकाने का कहता है । साथ ही, एक बात यह भी है कि आज मैंने इसी का संग किया । बुद्धि, तर्क, विवेचना-शक्ति—सब के

परामर्श की अब तक अवहेलना ही करता रहा, और ठीक ही किया। यदि ऐसा न किये होता, तो शायद आज ऐसा न होता। और, सांकेतिक रूप में वासना का भी तो कहना है कि उसके केवल सूक्ष्म रूप से ही प्रेम, शान्ति और दया का सम्बन्ध है। वह इनसे पूरा-पूरा प्रेम करता है। तब मैं सुख के दिन के तथ्य रूप को ही क्यों न अपनाऊँ ? मैंने विषय-वासना की ओर घूमकर कहा—भई, मेरे घर में अनेक कुटुम्बी हैं। बहुतों की राय तो यह हुई कि मैं तुम्हें वापस ले चलूँ; इसी में मेरी भलाई है। परन्तु मेरे हृदय की यह राय है कि तुम्हारा लौटना और न लौटना—दोनों ही—उसके लिये समान है। तुम्हारे लौटने से उसकी कोई भलाई न होगी, और न लौटने से भी उसकी कोई हानि नहीं होने की। फिर मुझको जहाँ रहना है—जिसके यहाँ बसना है—टिकना है, जब उसी की यह दशा है, तो मैं कैसे वचन-बद्ध होऊँ कि तुम्हारे चलने से मेरी भलाई ही होगी। जी चाहे—चलो ; मैं विनती अवश्य करता हूँ कि तुम वापस चलो।

उसने कहा—यदि ऐसी बात है, तब क्यों मुझको वापस ले चलोगे ? मुझे अब जाने दो । बस, प्रणाम !

२

पूर्वोक्त बातें कहकर मेरे भौतिक सुख का दिन धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा । मैं वैसे ही खड़ा रहा । देखा कि सृष्टि की सुषमा उसी के साथ-साथ, उसी की मस्तानी चाल में अपनी चाल मिलाये, झूमती हुई, चली जा रही है । आकाश की उज्ज्वलता और हँसी, उसी की बगल में, उससे लिपटी हुई, हँसती चली जा रही है । वसुन्धरा की मधुरता एंव सुन्दरता, उसके अगल-बगल, उसका मुँह ताकती हुई, उसकी आज्ञा को जोहती हुई, चली जा रही है । मलयानिल की शीतलता, वनस्पति की कमनीयता, दोनों आपस में मिलकर, उसके आगे-आगे पलकों के पाँवड़े बिछाती हुई, चली जा रही हैं ; और वह, उसी पर पाँव रखता हुआ, सूर्योदय की लालिमा का-सा दमकता हुआ, आगे की ओर बढ़ रहा है !

मैं वैसे ही खड़ा-खड़ा उसको ताकता रहा। वह मेरे दृष्टि-क्षेत्र के उस पार हो ही रहा था कि मैंने आश्चर्य के साथ देखा, मेरे शरीर से कुछ निकल रहा है, और धीरे-धीरे वैसे ही उसी की ओर आगे बढ़ रहा है! विचार कर देखा, तो ज्ञात हुआ कि मेरे शरीर से संसार का भौतिक सुख निकल गया! उसी के साथ-साथ उत्साह, उद्यम, चाह, पौरुष, एक समूह बाँधकर, बाहर निकले चले आते हैं।

मैंने उत्साह को सम्बोधन करके पूछा—तुम कहाँ जा रहे हो?

उसने कहा—जहाँ तुम्हारे भौतिक सुख का जीवन गया है, वहीं।

मैंने कहा—वह तो मुझे त्यागकर भाग गया।

उसने कहा—मैं भागता तो नहीं हूँ; परन्तु उसके बिना यहाँ मेरा काम ही क्या रह जायगा? तुमको अब मेरी आवश्यकता ही क्या पड़ेगी? परन्तु, जब कभी तुम्हें मेरी आवश्यकता जान पड़ेगी, फ़ौरन ही, बिना बुलाये ही, स्वयं उपस्थित हो जाऊँगा।

मैंने कहा—जाओ।

वह चला गया। फिर उद्यम आया। मैंने उससे पूछा—कहो भाई, तुम कहाँ चले ? तुम सब-के-सब कहाँ और क्यों चले जा रहे हो ?

उद्यम ने कहा—मैं यह तो नहीं जानता हूँ कि क्यों और कहाँ जा रहा हूँ, परन्तु अब यहाँ मेरे रहने से तुम्हें और मुझे भी कष्ट होगा। अतः मैं भी उसी के साथ जा रहा हूँ। यदि तुम भी चलना चाहो, तो चल सकते हो। मैं यहाँ रहकर करूँगा ही क्या ?

मैंने कहा—क्या चाह ने ही तुमको अपने साथ चलने की आज्ञा दी है ?

उसने कहा—नहीं, किन्तु जब चाह ही चली जा रही है, तो मुझको रोककर ही क्या करोगे ? मुझे भी जाने दो।

उद्यम भी चला गया ! तदनन्तर हृदय से निकलकर चाह भी, मुहर्रमी सूरत बनाये, आती हुई दिखलाई पड़ी। मैंने कहा—आओ, तुम्हारी ही प्रतीक्षा में तो था। भला बताओ तो, तुम क्यों चली जा रही हो ?

उसने दुःख के साथ उत्तर दिया—मैं आज तक कहीं से स्वेच्छापूर्वक गई हूँ कि आज अपने मन से चली जाऊँगी ? परन्तु, मैंने देखा कि तुम्हारे यहाँ अब मेरा निवास करना असम्भव है। विषय-वासना वापस आने को तैयार थी, लेकिन तुमने उसको नहीं लौटाया। अब उसके अभाव में कैसे विश्वास कर सकती हूँ कि तुम्हारे यहाँ मेरी पूछ हो सकेगी ?

मैंने पूछा—क्यों ? तुम्हारी आवभगत में कौन-सी त्रुटि हुई ?

उसने कहा—त्रुटि की बात नहीं है, बात असल यह है कि जब सुख ही चला गया, तब मेरी इच्छा-पूर्त्ति कौन कर सकता है ? और, यदि मुझको अकेले रक्खोगे, तो तुमको दुःख होगा। इस लिये अब मुझे जाने ही दो। मुझे रोककर क्या करोगे ?

मैंने हँसकर कहा—जाओ, तुम भी जाओ।

वह और सबों की अपेक्षा अधिक उदास होकर, ग़मगीन सूरत बनाये, जिधर सब गये थे उधर ही, उठती-बैठती चली गई !

फिर, देखा कि पौरुष ऐंठता और हँसता हुआ भीतर से चला आ रहा है! मैंने कहा—कहो भाई, सब तो कुछ-न-कुछ कहकर चले गये; तुम क्या कह-कर जाना चाहते हो?

उसने कहा—मैं न जाना चाहता हूँ न रहना। सब बाहर आ रहे थे; इसलिये मैंने सोचा कि हो-न-हो यहाँ के निवासियों को देश-निकाला हुआ है—तभी सब चले जा रहे हैं। बस, यही समझकर, कौतूहल-वश, मैं भी बाहर चला आया हूँ। अब तुम जैसा कहो?

मैंने कहा—अच्छा किया! पर मैं तुमको जाने नहीं दूँगा। एक तुम्हारे ही रहने से सब-के-सब मेरे पास समय-समय पर आ जाया करेंगे; इसी लिये मैंने सभी को, विना रोक-टोक, जाने भी दिया। लेकिन तुम्हें मैं हरगिज़ न जाने दूँगा, और न तुम मेरी इच्छा के प्रतिकूल जा ही सकते हो।

उसने कहा—मेरा जाना और रहना तुम्हारे अधीन है। मैं अपने मन से जा भी नहीं सकता।

मैंने कहा—अच्छा, भीतर जाओ, लौट जाओ।

वह 'बहुत खूब' कहकर मेरे हृदय के भीतर जा बैठा। मैं फूल उठा!

३

इसी बातचीत में घंटों बीत गया। जब अवकाश पाया, तो देखा कि भौतिक सुख मेरी आँखों से ओझल हो गया है! किन्तु जिधर वह गया था, उधर ही से एक दूसरी कतार मेरी ओर चली आ रही है! उसमें कई सूरतें थीं। सबसे आगे 'चिन्ता' थी; उसके पीछे 'शोक'—'पश्चात्ताप' के हाथ-में-हाथ डाले—अपनी मौज से टहलता हुआ, चला आ रहा था। इनके पीछे-पीछे 'दुःख'—खिन्न-वदन—ऊँघता हुआ, बढ़ा आ रहा था। उसके पीछे, कुछ दूरी पर, एक अत्यन्त सुन्दर पुरुष—एक शुभ्र-वसना सुन्दरी को साथ लिये, उससे हँस-हँसकर बातें करते—मचलता चला आ रहा था।

मैं झट अपने नेत्र-रूपी दरवाज़े को बन्द करके अपने घर के अन्दर पहुँचा, और हृदय से पूछा—

कहो भई, एक समूह ने तो यहाँ से अभी बिदा लेकर प्रस्थान किया, उसको मैंने बिना किसी हिचकिचाहट के बिदा भी कर दिया; अब देखता हूँ कि एक दूसरा भयंकर समूह इधर ही को चला आ रहा है। अब क्या करना चाहिये ?

हृदय ने हँसकर जवाब दिया—बस इतने ही में घबड़ा गये ? पौरुष को तो नहीं बिदा किया है न ?

मैंने कहा—नहीं।

उसने कहा—फिर घबड़ाते क्यों हो ? ये कोई नवागन्तुक थोड़े ही हैं ? ये तो पूर्व ही से, 'अज्ञात व्यग्रता' के रूप में, तुम्हारे यहाँ विद्यमान थे—हाँ, तुमको दिखाई नहीं देते थे। अब जो दृष्टि-गत होने लगे हैं, इसका कारण यह है कि तुम्हारे विवेक-चक्षु अब इनको परखने में समर्थ हुए हैं। लेकिन घबड़ाओ नहीं, इनका दर्शन ही इनकी बिदाई होगी। कौन-कौन हैं ?

मैंने एक-एक करके सबका परिचय दे दिया। तब उसने फिर पूछा—वह, अन्त में, सबके पीछे, स्त्री-पुरुष कौन हैं ? पहचानते हो कि नहीं ?

मैंने कहा—नहीं।

उसने कहा—वे आज पहले-पहल नये आ रहे हैं। उनके नाम भी तुम अभी जान लोगे। अच्छा, आगेवालों को तो मैं ऐसी फटकार सुनाऊँगा कि वे फिर यहाँ आने का नाम तक न लेंगे। भीतर मेरे पास चले आने देना। यदि कोई बाहर ही, तुम्हारे मुख-मंडल पर, रहने की हठ करे, तो उससे साफ़ कह देना कि तुमलोगों के रहने का प्रबन्ध अन्दर ही—हृदय में—किया गया है, वहीं जाओ। लेकिन उन अन्त-वाले दो व्यक्तियों—स्त्री-पुरुष—को अपनी आँखों पर बिठा लेना, विना रोक-टोक के स्वच्छन्द विचरने देना।

मैं बाहर आया और अपने नयन-कपाट को खोल-कर बैठ रहा। एक-एक करके सभी आये। किसी ने ललाट पर, किसी ने भृकुटी पर, किसी ने कपोलों पर अपना-अपना आसन जमाना चाहा; लेकिन सब-के-सब फटकारे गये—उन्हें विवश होकर हृदय के अन्दर ही जाना पड़ा। किन्तु, वहाँ बेतरह फटकारे जाकर सब-के-सब उलटे-पाँव वापस हुए!

हाँ, वह स्त्री-पुरुष जो आते दीख पड़े थे, वे मेरे मुख-मंडल पर और हृदय-हर्म्य की वेदना-वेदी पर इस ढंग से रहने लगे कि मुझे उनका रहना ज्ञात ही न हुआ !

किन्तु, एक बात नई हुई—तब से मैं अष्ट-प्रहर एक विलक्षण आनन्दानुभूति में मग्न रहता हूँ। कुछ समझ में नहीं आता कि कौन-सा परिवर्त्तन हुआ है कि मैं वैसा से ऐसा हो गया ! पहले की वेदनाएँ अब सब काफ़ूर हो गईं। आँसू भी उमड़ते हैं, तो आनन्द ही के उद्रेक से ; हँसी भी आती है, तो आनन्द ही के उच्छ्वास से ; गाना भी गाता हूँ, तो आनन्द ही के उल्लास से।

इस महत् परिवर्त्तन को देखकर मुझसे न रहा गया। दौड़ा हुआ हृदय के पास गया। पूछा—आज तुमसे कुछ पूछना चाहता हूँ ; बहुत दिनों से बातें नहीं हुई हैं।

उसने कहा—पूछो।

मैंने कहा—मुझमें यह परिवर्त्तन कैसे हुआ ? विलक्षण रीति से मैं अप्रकाश्य आनन्दानुभूति में सदैव मग्न कैसे रहने लगा ?

उसने कहा—उन्हीं दो मंजुल मूर्त्तियों के कारण।

मैंने पूछा—वे हैं कहाँ? मुझसे तो अद्यावधि उनसे भेंट ही नहीं हुई है!

उसने उत्तर दिया—भेंट तो नित्य होती है; वे तो सदैव यहीं रहते हैं।

मैं—उनके नाम तुमने नहीं बताये?

उसने मुस्कराकर कहा—वह जो श्वेत वस्त्रालंकृत अत्यन्त सुन्दर एवं तेजोमयी आकृति का पुरुष आगे-आगे था, वह तुम्हारे भौतिक—विषय-वासना-सम्पन्न—सुख के दिन का तथ्य, माया-रहित निष्काम जीवन, था। अपने इसी सूक्ष्म रूप के विषय में, तुम्हारी विषय-वासना ने, उस दिन जाते समय कुछ कहा था।

मैंने उद्विग्न होकर पूछा—और वह शान्ति-स्वरूपा, स्वर्गीय-सौन्दर्यमयी रमणी?

उसने अट्टहासपूर्वक कहा—वह? वही 'शान्ति' थी!

मैं—भला वह वासना के उस सूक्ष्म रूप के साथ कैसे आई?

उसने झुँझलाकर कहा—तुम भूलते हो जी; इस शान्ति और उस अनादि पुरुष में प्रगाढ़ मैत्री है न?

मैं तार-स्वर से बोल उठा—अब समझा!!

मैंने फिर सलाह के स्वर में पूछा—अच्छा, क्या तुम भी मेरे ही समान आनन्दानुभूति में मग्न रहते हो?

वह—अजी तुमसे भी अधिक!

मैं—क्या अब चिन्ता, शोक आदि तुम्हें नहीं सताते?

वह—सबको मार भगाया, ऐसा फटकारा कि फिर इधर घूमकर ताकने की भी हिम्मत न हुई।

इसके बाद न-जाने क्यों वह मुझसे लिपटकर रोने लगा। मैं भी अपने को रोक न सका, बेकाबू होकर रोने लग गया।

इसी प्रकार हम दोनों घंटों रोते रहे। अन्त में विह्वल होकर मैंने कहा—चुप रहो, मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे हो; हम दोनों अभिन्न हैं—जैसे जल और तरंग,

शब्द और अर्थ, अग्नि और ताप, भूमि और गंध, सागर और गाम्भीर्य, वायु और स्पर्श, मणि और कान्ति, कंचन और दीप्ति, इन्द्रचाप और शोभा।

मेरी सान्त्वना-भरी बातें सुनकर उसे बड़ा आश्वासन मिला। वह शान्त हो गया—दूध-मिसरी की तरह मुझमें घुल-मिल गया। फिर न मैं अपने-आपको पा सका और न वह। हम दोनों, जन्म और मृत्यु की तरह, मिलकर एक हो गये। जिस प्रकार वसन्त और कलकंठ का—जलधर और विद्युल्लता का—सूर्योदय और पंकज-श्री का—शरद्-राका और सुधाधर का संयोग होता है, उसी प्रकार हम दोनों का परस्पर-संयोग हो गया—ऐसा अपूर्व मिलन हुआ कि अब यह जानना भी कठिन हो गया कि मेरा और मेरे हृदय का अस्तित्व एकत्र ही है अथवा पृथक्। अन्त में सोच-विचारकर मैंने ही यह निश्चय किया कि हम दोनों एक ही ज्योति की दो किरणें हैं, एक ही डाल के दो फूल हैं, एक ही पुष्प के दो दल हैं, एक ही वाण के दो फल हैं।

इतना सोचते-सोचते मुझे एकाएक अपने उस निष्ठुर मित्र का स्मरण हो आया। मैं चकित होकर इधर-उधर देखने लगा। जब अपने-आपको देखा, तो वह मेरे ही अन्दर बैठा-बैठा हँस रहा था! मैंने खीजकर पूछा—तुमको मैं तमाम ढूँढ़ रहा था, परेशान हो गया, और तुम यहीं बैठे हो?

उसने हँसकर उत्तर दिया—मैं तुमसे अलग कब था कि मुझको ढूँढ़ने चले थे?

मैंने कहा—तुम सचमुच बड़े निष्ठुर और निर्मोही हो।

वह—तुम मुझे ठीक-ठीक जानते नहीं, इसीलिये ऐसी बातें कर रहे हो।

यह कहकर उसने अपने हृदय को खोलकर मुझे दिखाया; फिर पूछा—अब भी निर्मोही कहोगे?

मैंने देखा कि उसके हृदय में अखिल विश्व का वात्सल्य स्नेह, सौख्य, करुणा, आनन्द, सत्य आदि सम्पूर्ण वैभव भरा हुआ है, और मैं भी उसी में बैठा हुआ हूँ!

मेरी आँखों में तो, यह अद्भुत दृश्य देखकर, आँसू भर आये। मैंने गद्गद कंठ से कहा—मैं तो तुम ही हूँ।

उसने कहा—बस यही तुम नहीं जानते थे, इसी से मुझे निर्दय कहते थे।

मैंने पूछा—तुमको या अपने को?

वह—मुझे कहो या अपने को, दोनों एक ही बात है।

अब मुझको स्मरण हुआ कि इसका—अपने प्रेमी का, जो मैं ही हूँ—नाम जान लूँ, तो मुझे अपना नाम भी ज्ञात हो जायगा। अतः मैंने बड़ी उत्सुकता से पूछा—तुम्हारा नाम क्या है?

उसने जवाब दिया—जो नाम तुम्हारा है।

मैंने कहा—मैं तो अपना नाम जानता ही नहीं।

उसने पूछा—तुम्हारे हृदय का क्या नाम था?

मैंने अपनी स्मृति पर भार देकर कहा—एक दिन उसने अपना नाम 'आत्मा' बताया था।

उसने पूछा—वह तुम्हारा हृदय कहाँ गया?

मैंने कहा—मुझी में लीन हो गया।

उसने फिर पूछा—तो क्या कभी अलग भी था?

मैंने सँभलकर सहा—ना, कभी नहीं।

उसने हँसकर कहा—हृदय का नाम मालूम है और अपना नहीं? और साथ ही—यह भी कहते हो कि हम दोनों एक हैं?

मैं अवाक् हो गया। फिर क्षण-भर ठहरकर पूछा—तब तुम भी तो 'आत्मा' ही ठहरे?

वह—तुम जो हो, वही मैं भी हूँ!

मैं—हम तीनों में बड़ा कौन है?

वह—कोई नहीं; सब बराबर हैं। अग्नि एक ही है—चाहे वह एक विशाल वृक्ष से प्रज्वलित हो अथवा एक छोटे तृण से। है वह एक ही।

मैं—मैं और हृदय, दोनों, तो एक में लीन ही हो गये; तुम शेष थे, सो आओ।

वह दौड़कर मुझसे मिला, और मैंने देखा कि मैं ही वह हूँ, जिसको संसार 'सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सर्वसम्पन्न' कहता है—मैं ही वह हूँ, जो 'आनन्द-निधि' और 'अखंड-ज्योति' के नाम से सम्बोधित होता है!

१०४+१८=१२२